सहज पाठ संग्रह

ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'

SHREE VARDHAMAN NYAS
AMAYAN

श्री वर्द्धमान न्यास (पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट)
अमायन, भिण्ड (म.प्र.) - 477227
मो. 9826225580

सहज पाठ संग्रह

ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'

प्रथम नवीन संस्करण : 5,000 प्रतियाँ

(श्री कुन्दकुन्द नगर, सोनागिर सिद्धक्षेत्र में आध्यात्मिक संगोष्ठी दिनांक : 16 मार्च से 19 मार्च 2023 के अवसर पर प्रकाशित)

सहयोगी :

1. स्व. श्री चक्रेश कुमार जैन, आगरा एवं पं. श्री अरविन्द कुमार जी जैन करहल की स्मृति में
2. श्री विजय जैन, दादर मुम्बई
3. श्रीमती स्नेहलता जैन ध.प. श्री नरेन्द्र जैन, मुरार ग्वालियर
4. श्री शांतिलाल जैन एवं श्रीमती प्रभा महन्त, यू.एस.ए.
5. श्रीमती भविशा जैन ध.प. श्री आत्मदीप जैन, मद्रास
6. श्री आशीष जैन, दिल्ली
7. श्रीमती स्नेहलता ध.प. श्री धर्मचन्द जी सोगानी मनोरमागंज, इन्दौर
8. स्व. श्री शांतिलाल जी काला की स्मृति में ध.प. श्रीमती इन्द्रादेवी काला, अमायन
9. ब्र. अर्चना बहिन, अल्का बहिन, अमायन
10. नीलम दीदी, मुरार
11. श्री सुरेश बड़जात्या, इन्दौर
12. मालती बहिन, अमायन
13. श्रीमती कस्तूरी देवी, टीकमगढ़
14. वाणीभूषण पं. ज्ञानचन्दजी की पुण्य स्मृति में ज्ञान-कमल चेरिटेबल ट्रस्ट, विदिशा

प्रकाशक :

श्री वर्द्धमान न्यास

(पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट)

अमायन, भिण्ड (म.प्र.)-477227

मो. : 09826225580

न्योछावर : 50/- रुपये

Sahaj Paath Sangrah
by Br. Ravindraji "Aatman"
Price : 50.00

प्रकाशकीय

'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा अनुभव करने वाला सहज सुखी होता है। अनादि-अनंत सत्ता का भाव भासन होने से उसे जन्म-मरण का भय नहीं होता।

अमूर्तिक स्वरूप का भान होने से रोगादि की शंका नहीं होती। क्रमबद्ध परिणमन का श्रद्धान होने से उसे अचानक कुछ हो जाने का विकल्प नहीं होता। अपने वैभव में संतुष्टि होने से बाह्य वैभव की चाह नहीं होती। अपना ध्रुव पद दिखाई देने से उसे बाह्य पदों का आकर्षण नहीं होता। आत्मा में दु:ख का कोई कारण न होने से उसे सहज दु:ख नहीं होता।

अहो! शुद्ध चिद्रूप की अनुभूति में सर्व समाधान हैं। इन सिद्धांतों को पद्य शैली में अध्यात्म, ज्ञान, वैराग्यमयी पाठ जो भाव विशुद्धि के प्रबल निमित्त हैं।

लोकेषणा से परे एकान्त साधक परम आदरणीय **ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'** निज धुन में निमग्न, आंतरिक पवित्र व निर्मल भाव कैसे लेखनी बद्ध हुये? क्या कहें? ऐसा प्रतीत होता है भव्य जीवों के भाग्य से हुण्डावसर्पिणी काल में इन निर्दोष अनेकान्त, स्याद्वादमयी सिद्धांतों को पिरोना कोई अद्‌भुत घटना है। ये पद्य पग-पग पर जीवन में आने वाले प्रश्न चिन्हों का समाधान व मार्ग प्रशस्त करने में प्रबल निमित्त हैं।

आत्माराधना सहज आनंदमय है, तब अन्य चाह कैसे हो? स्वभाव का लक्ष्य हो और पर्याय में भूमिका के योग्य शुद्धि न प्रगटे यह असम्भव है। पक्ष वश चर्चा और चिंतन हो जाना अलग बात है। अंतर का मार्ग मात्र बाह्य ज्ञान और बाह्य क्रियाओं से नहीं मिलता, उसके लिए अंतर्मुखी उपयोग, पुरुषार्थ अनिवार्य है।

याद करना या बारम्बार पाठ करना भी स्वाध्याय का अङ्ग है। कहा भी है–विद्या कण्ठ की और द्रव्य गांठ की काम आती है। कान और चक्षुओं से कब सुनाई देना या दिखाई देना बन्द हो जाए, कहा नहीं जा सकता। अतः ज्ञान–वैराग्यमय इन आध्यात्मिक पाठों को कण्ठस्थ करें, अर्थ समझते हुए दैनिक पाठ को, अपने उपयोग को विकल्प और प्रमाद से बचाते हुए निरन्तर ज्ञानाभ्यास में लगाने का प्रयास करें।

संकलित नवीन पाठ व अध्यात्म पाठ मंजूषा, वैराग्य पाठ संग्रह से आपके ये पद्य आराधना और प्रभावना में निमित्त बने, इसी भावना से '**सहज पाठ संग्रह**' का मंगल संकलन प्रस्तुत है। सभी सहयोगियों के हम हृदय से आभारी हैं।

अखिल जैन

मंत्री, श्री वर्द्धमान न्यास अमायन (भिण्ड) म.प्र.

भूमिका

वैसे तो आजकल कोई भी व्यक्ति कुछ भी लय बनाकर तुकबन्दी-सी करता है तो उसे कविता कह देते हैं परन्तु वास्तव में कविता लिखना आसान नहीं होता। प्राचीन साहित्य में कवि को मनीषी, परिभू, स्वयम्भू इत्यादि महान शब्दों से कहा गया है ('कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यातोऽर्थान्' - ईशावासोपनिषद्-8)

कवि वास्तव में वही है जो अध्यात्म विद्या का जानकार हो और कविता भी वही है जो अध्यात्म रस से लबालब भरी हो। जिस कविता में अध्यात्म रस नहीं हो वह सरस कैसे कही जा सकती है?

कितने ही लोग श्रृंगारादि रसों के उस वर्णन को कविता कहते हैं जो पाठक के कामादि भावों को उद्दीप्त करे किन्तु यह हमारी भारतीय काव्य-परम्परा नहीं है। इसे तो हमारे यहाँ अनेक प्रकार से निन्दनीय कहा गया है। यथा-

(वसंततिलका)

कालादपि प्रसृतमोहमहांधकारे, मार्गनपश्यतिजनो जगति प्रशस्तम्।
क्षुद्राः क्षिपन्ति दृशिदुःश्रुतिधूलिमस्य नस्यात्कथं गतिरनिश्चितदुःपथेषु।।

-पद्मनंदि-पंचविंशतिका, 113

अर्थ- अनादिकाल से फैले हुए मोहरूपी महान् अन्धकार से व्याप्त इस जगत में विचारे मोही जीव एक तो स्वयमेव ही श्रेष्ठ मार्ग को नहीं देख सकते हैं। यदि किसी रीति से देख भी सकें तो दुष्ट पुरुष और भी उसकी आँखों में श्रृंगारादि शास्त्र सुनाकर धूलि डालते हैं। इससे वे जीव खोटे मार्ग में ही गमन करते हैं।

ऐसी ही बात कविवर पंडित भूधरदासजी ने भी अपने जैन शतक में अनेक छंदों में कही है, जिनमें एक छन्द इस प्रकार है-

(मत्तगयन्द सवैया)

राग उदै जग अंध भयौ, सहजै सबलोगन लाज गवाँई।
सीख बिना नर सीख रहे, विसनादिक सेवन की सुघराई।।
तापर और रचैं रस काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझन की अँखियान में, झोंकत हैं रजराम दुहाई।।

–महाकवि भूधरदास, जैन शतक, 64

अर्थ– अहो! राग भाव के उदय से यह दुनियाँ वैसे ही इतनी अंधी हो रही है कि सब लोग अपनी सारी मान-मर्यादा खोये बैठे हैं। व्यक्ति बिना ही सिखाये व्यसनादि सेवन में कुशलता प्राप्त कर रहे हैं। ऊपर से जो कुकवि उन्हीं व्यसनादि के पोषण करने वाले काव्यों की रचना करते हैं, उनकी निष्ठुरता का क्या कहना? वे बड़े निर्दयी हैं। भगवान की सौगन्ध वे कुकवि, जो लोग अंधे हैं– जिन्हें कुछ नहीं दीखता, उनकी आँखों में धूल झोंक रहे हैं।

इसीप्रकार के और भी अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं किन्तु कहने का कुल तात्पर्य यही है कि उत्तम कविता वास्तव में वही है जो आध्यात्मिक हो, अध्यात्म विद्या की प्रतिपादक हो ताकि पाठक को सच्चा आनन्द प्रदान कर सके। अध्यात्म विद्या से रहित कविता को उत्तम कविता नहीं माना जा सकता।

आदरणीय ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्' इसीलिए सच्चे कवि हैं कि उनकी कविताएँ अध्यात्म विद्या का प्रतिपादन करती हैं और सभी को अध्यात्म रस का अमृत पिलाकर सही अर्थों में आनन्दित करती है। सभी लोग इन कविताओं (पाठों) के माध्यम से अध्यात्म रस का निरन्तर पान करें–यही मेरी भावना है।

–प्रो. वीरसागर जैन, दिल्ली

विषय-सूची

क्र.	पाठ	पृ. संख्या
1.	सर्वज्ञ-स्तवन	13
2.	अक्षय-निधि	14
3.	आत्म-चिंतन	15
4.	प्रभु-मिलन	16
5.	सम्यक् पुरुषार्थ	17
6.	सिद्ध पद की भावना	19
7.	आत्म-संबोधन	20
8.	निश्चय-शरण	21
9.	सहज-भावना	22
10.	निज-वैभव	23
11.	ध्रुव की धुन	24
12.	सच्चा-सुख	25
13.	ध्येय	26
14.	सुख का उपाय	27
15.	आत्मन्-संबोधन	28
16.	अपने में सावधान	29
17.	आत्महित की भावना	31
18.	निज-निधि	32
19.	मेरा प्रभु	33
20.	निष्काम भावना	34
21.	अकर्तृत्व दशक	35
22.	ज्ञानमय-आराधना	36
23.	निर्विकल्प-भावना	38
24.	निर्भय स्वभाव चिंतन	39
25.	आत्मोपवन	41
26.	निरावरण स्वभाव	42
27.	वस्तु व्यवस्था	43
28.	आत्मा की सैंतालीस शक्तियाँ	43
29.	सुख का मूल-भेद-विज्ञान	45
30.	भेद विज्ञान विचार	46
31.	देह भिन्नता का विचार	47
32.	आत्मानुभव की भावना	49
33.	स्व-संबोधन	49
34.	आत्महितकारी भावना	51
35.	ज्ञानमय चर्चा	53
36.	पुण्य और धर्म	55
37.	निष्काम ज्ञानी	55
38.	तत्त्व भावना	56
39.	ध्रुव ज्ञायक रूप	57
40.	अपनी प्रभुता	58
41.	अपनी पहिचान	59
42.	ज्ञान-ध्यान	59
43.	निरपेक्ष स्वरूप	60
44.	चैतन्य स्वरूप	61
45.	आत्म-पुरुषार्थ	62
46.	मुमुक्षु का श्रद्धान	63
47.	ज्ञानमय स्वरूप	65
48.	निजपद की भावना	66
49.	अपने भाव सम्हारो	66
50.	ज्ञाता स्वरूप	67
51.	परमार्थ रूप	68
52.	रत्नत्रय भावना	69
53.	रत्नत्रय महिमा	70
54.	मोक्षमार्ग	71
55.	सुख-साधन	72
56	सुख का उपाय	73
57.	जयवंतो सम्यग्ज्ञान	74
58.	सम्यक् चारित्र की प्रेरणा	75
59.	सम्यक् चारित्र महान	75
60.	जिनधर्म महत्व	76
61.	दुर्लभ जिनधर्म	77
62.	धर्म भावना दशक	78
63.	जिनशासनाष्टक	79
64.	हित चिन्तवन	81

65.	दुख का मूल कारण	82
66.	अन्तर्दृष्टि की प्रेरणा	83
67.	स्वानुभव की प्रेरणा	84
68.	स्व-संबोधन	84
69.	स्वानुभूतिमय जिनशासन	86
70.	समता सुख	87
71.	राग का कारण	88
72.	वस्तु-स्वरूप विचार	90
73.	चेतावनी	92
74.	दृष्टि का खेल	94
75.	सफल जीवन	94
76.	भव-रोग	95
77.	दु:ख के कारण भोग	97
78.	कषाय त्याग	98
79.	जन्म दिन	99
80.	संसार दर्शन	99
81.	कर्मों की लीला	100
82.	सांसारिक सम्बन्ध	101
83.	अशुचि काया	102
84.	षट्कारक दर्शन	103
85.	सच्ची-भक्ति	103
86.	सत्प्रेरणा	104
87.	पुरुषार्थ दशक	105
88.	श्रद्धा का स्वरूप	106
89.	वीर भक्ति दशक	107
90.	महावीर संदेश	108
91.	महावीर जयंती संदेश	110
92.	चार अनुयोगमयी जिनवाणी	112
93.	सच्ची माता	114
94.	जिनवाणी माँ	115
95.	जिनमार्ग	116
96.	मेरा सहज जीवन	119
97.	ज्ञानाष्टक	120
98.	सान्त्वनाष्टक	121
99.	कर्त्तव्याष्टक	123
100.	समता षोडसी	123
101.	परमार्थ-शरण	125
102.	अपनी वैभव गाथा	126
103.	शुद्धात्म-आराधना	128
104.	शुद्धात्म-चिन्तवन	131
105.	नित्य भावना	133
106.	आत्म-भावना	135
107.	सम्बोधनाष्टक	137
108.	सम्बोधन-सप्तक	137
109.	अपना स्वरूप	138
110.	जिनधर्म	139
111.	अपूर्व कार्य करूँगा	140
112.	निर्मुक्ति-भावना	143
113.	स्वाधीन मार्ग	145
114.	प्रभावना	148
115.	मंगल शृंगार	150
116.	नारी स्वरूप	152
117.	चेतो-चेतो आराधना में	153
118.	आराधना का फल	155
119.	वात्सल्य भावना	157
120.	निर्ग्रन्थ स्वरूप	162
121.	संयताष्टक	162
122.	गुरु स्मरण	164
123.	शुद्धोपयोग भावना	166
124.	गुरु स्मरणाष्टक	166
125.	निर्ग्रन्थ भावना	168
126.	निर्ग्रन्थ भाव स्तवन	169
127.	बृहत् साधु स्तवन	171
128.	सन्यास भावना	174
129.	वैराग्य द्वादशी	177
130.	बाईस परीषह	178

131. अपूर्व अवसर 182
132. बारह भावना-1 184
133. बारह भावना-2 187
134. दशधर्म द्वादशी 188
135. दशलक्षण धर्म का मर्म 190
136. दशलक्षण धर्म गाथा 192
137. ब्रह्मचर्य विंशतिका 193
138. ब्रह्मचर्य द्वादशी 195
139. ब्रह्मचर्य ध्रुव ब्रह्ममयी 197
140. षोडश कारण विंशतिका 198
141. सामायिक पाठ 202
142. सामायिक भावना 204
143. समाधिमरण पाठ 206
144. वचन संबंधी-तत्त्व विचार 208
145. पूजा संबंधी-भेद-विज्ञान 209
146. ज्ञानी का भोजन संबंधी चिंतवन 210
147. शिव वाँछक-शिव नारी संवाद 211
148. आत्मार्थी-जिनवाणी संवाद 213
149. अज्ञानी-ज्ञानी संवाद 216
150. शिष्य-गुरु संवाद 219
151. श्री कुन्दकुन्द संवाद 220
152. संसारी-मुमुक्षु संवाद 221
153. पिता-पुत्र संवाद 223
154. पुत्र-माता संवाद 224
155. ज्ञानी माता-ज्ञानी पुत्र संवाद 227
156. भाई-बहिन संवाद 230
157. बहिन-भाई संवाद 233
158. जिज्ञासु-जिनवाणी संवाद 235
159. आराधक-आराध्य संवाद 236
160. पार्श्वदास-पार्श्वनाथ संवाद 237
161. सार समुच्चय सार 239
162. सुभाषित विशंतिका सार 240
163. तत्त्वार्थ विंशतिका सार 242
164. अक्षय तृतीया 244
165. अक्षय तृतीया पर्व महान 246
166. सच्ची दीपावली 247
167. रक्षाबंधन कथा 248
168. संकल्प दशाक 249
169. रक्षाबंधन पर्व 251
170. रक्षाबंधन पर्व पर संकल्प 253
171. श्रुत पंचमी महत्व 254
172. श्रुत पंचमी 255
173. श्री वासुपूज्य चरित्र 257
174. श्री मल्लिनाथ वैराग्य 261
175. श्री नेमिकुमार निष्क्रमण 265
176. राजुल का वैराग्य 269
177. श्री पार्श्व प्रभु गाथा 270
178. श्री महावीर का गृह त्याग 276
179. श्री भरतेश्वर गाथा 279
180. श्री हनुमान चरित्र 280
181. देशभूषण-कुलभूषण गाथा 282
182. अकलंक-निकलंक गाथा 286
183. श्री यशोधर गाथा 289
184. श्री सुकुमाल चरित्र 292
185. श्री सुकौशल गाथा 294
186. श्री बज्रबाहु वैराग्य 298
187. सेठ सुदर्शन गाथा 303
188. श्री वारिषेण वैराग्य 307
189 श्री जम्बूस्वामी वैराग्य 312
190. श्री कुन्दकुन्द वैराग्य 314
191. सती अनन्तमयी गाथा 318
192. सच्चा जैन 321
193. संकल्प 322
194. तीर्थ वंदना 323
195. सर्वज्ञ शासन जयवंत वर्ते! 324
196. नम्र भावना 325

अहो भाग्य

हिन्दी साहित्य की समृद्धि में भक्ति साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। लगभग 400 वर्षों से जैन कविगण भी भक्ति साहित्य को समृद्ध करते आये है। वर्तमान में अनेक वर्षों से तत्त्वज्ञान की धारा क्षीण होने के कारण भक्ति साहित्य का कलापक्ष एवं भावपक्ष भी विकृत होता जा रहा है। फिल्मों की श्रृंगार रस एवं मिथ्यात्व पोषक गीतों में कर्त्तत्ववाद एवं इच्छापूर्ति का विष भी घुलता जा रहा है, फिर भी कुछ कवियों ने जैन अध्यात्म को सुरक्षित रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी श्रृंखला में आदरणीय **ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्'** की अमर रचनायें पाठको को पुनः प्राचीन कवियों के युग की रसानुभूति करा रही है।

आपकी रचनायें सिद्धांत एवं अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के साथ-साथ पाठको को कर्तव्य पथ का संदेश दे रही है। **'ज्ञानाष्टक'** जैसी रचनायें आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त करती है तो **'समता षोड़सी'** और **'सांत्वनाष्टक'** जैसी रचनायें अध्यात्म एवं वैराग्य रस को पुष्ट करती है। भगवन्तों की भक्ति प्रधान रचनाओं में तो भक्ति और अध्यात्म का अनुपम संगम प्रवाहित होता है तो **'कर्त्तव्याष्टक' 'ब्रह्मचर्य द्वादशी' 'निर्ग्रन्थ भावना'** जैसी रचनायें आत्मार्थी जीवों के लिए सत्पथ प्रदर्शित करती है।

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है आ. ब्रह्मचारी जी की समृद्ध लेखनी निरन्तर नित नई रचनाओं को जन्म देकर जैन भक्ति साहित्य की श्रीवृद्धि के साथ-साथ तत्त्व रसिक समाज को भक्ति अध्यात्म और वैराग्य रस पान करने का अवसर प्रदान कर रही है।

आशा है आ. ब्रह्मचारी जी की पैनी प्रज्ञा चिरकाल तक ऐसी लोकोपकारी रचनाओं को जन्म देती रहेगी और पात्र जीव उनका मधुर रसपान करते हुए विषमय विषयरस से विरक्त होकर आत्मकल्याण में संलग्न होंगे। इत्यलम्

- पं. अभय कुमार जी जैन
जैनदर्शनाचार्य, देवलाली

(1) सर्वज्ञ-स्तवन

(तर्ज : ते गुरु मेरे उर बसो...)

प्रभुवर तुम साक्षी अहो, पाऊँ पद अविकार।
निर्विकल्प आनन्दमय, रहूँ मैं जाननहार।। 1।।
अद्भुत महिमा आपकी, अद्भुत है प्रभु ज्ञान।
ज्ञान ज्ञानमय ही रहे, झलके सकल जहान।। 2।।
नहीं मलिनता ज्ञेयकृत, नहीं उपाधि कोय।
निर्विकल्प आनन्दमय, प्रभु! तुम परिणति होय।। 3।।
स्वयं-स्वयं में तृप्त हो, स्वयं-स्वयं में मग्न।
स्वाश्रित परमानन्द में, कभी न किंचित् विघ्न।। 4।।
होना हो सो हो सहज, निर्विकार प्रभु आप।
ज्ञाता रूप रहो सदा, उपजे पुण्य न पाप।। 5।।
निजानन्द रस भोगते, अन्य न कोई भोग।
परम ब्रह्मचर्य प्रकट है, तिहुँ जग माँहि मनोग।। 6।।
दर्शायो निज रूप प्रभु, कियो परम उपकार।
होवे निज में लीनता, वंदन हो अविकार।। 7।।
पुण्य-पाप के स्वांग सब, देख लिए जिनराज।
अब वांछा कुछ ना रही, शरण गही प्रभु आज।। 8।।
जाननहार स्वरूप निज, प्रत्यक्ष रहो जनाय।
निर्विकल्प आनन्द भयो, भेद न कछू दिखाय।। 9।।

आप कहा जैसा प्रभु, वैसा ही दिखलाय।
धन्य हुआ, कृतकृत्य हुआ, निज स्वरूप को पाय।। 10।।
नहीं प्रयोजन जगत से, भासा सर्व असार।
प्रगटे अब निर्ग्रन्थता, भाव यही अविकार।। 11।।
अस्थिरता का दोष प्रभु, उपजे राग अरु द्वेष।
पर इनमें स्वामित्व मम, रहा नहीं लवलेश।। 12।।
फिर भी होवे खेद प्रभु, धन्य दशा प्रगटाय।
ऐसी थिरता नाथ हो, विकल्प मात्र नहिं आय।। 13।।
धन्य-धन्य वीतरागता, धन्य-धन्य शुद्धात्म।
धन्य-धन्य प्रभु आप हो, प्रगट्यो पद परमात्म।। 14।।
आवागमन विमुक्त हो, मैं भी तुम ढिंग आय।
प्रभुतामय शिव रूप हो, काल अनंत रहाय।। 15।।

(2) अक्षय-निधि

प्रभु वीतराग अनुपम मुद्रा, अक्षय निधि मुझे बताती है।
हूँ ज्ञानघनं प्रभु रूप स्वयं, सम्यक् श्रद्धा उमगाती है।। टेक।।
वर्णादिक पुद्गल भावों से, मेरा न कभी भी नाता है।
निर्बन्ध स्वरूप भूला मोही, झूठे सम्बन्ध बताता है।।
प्रभु मुक्त दशा लख निज निर्बन्ध स्वरूप की याद सुआती है।। 1।।
एकत्व और कर्त्तृत्व व्यर्थ ही, झूठा पर में मान लिया।
अनुकूल लगे तब मान किया, प्रतिकूल मानकर क्रोध किया।।
विभु! साम्यदशा यह, मोह क्षोभ की परिणति दूर भगाती है।। 2।।

मैं खुद ही शाश्वत प्रभुतामय, पर का किंचित् विक्षेप नहीं।
परिणति में भूला दुःखी हुआ, पर का तो हस्तक्षेप नहीं।।
स्वाधीन दशा हे प्रभो! आपकी, स्वाश्रित सुख दर्शाती है।। 3।।
संकल्प पूर्ण का प्रकट हुआ, साधन सब दीखे अन्दर में।
आरूढ़ होय निज परम भाव पर, पहुँचूँगा शिव मंदिर में।।
हे नाथ! आपकी अचल दशा, पावन पुरुषार्थ जगाती है।। 4।।
निज में स्थापन होने से, कर्मादि स्वयं ही भगते हैं।
आह्वानन् शुद्ध परिणति का, रागादि विसर्जित होते हैं।।
आराधन का उत्तम फल लखकर, निज की महिमा आती है।। 5।।
जग कोलाहल से रहित शान्तिमय, जिनमुद्रा प्रकटे प्रभुवर।
परम भाव में थिरतामय, रत्नत्रय पूर्ण बने जिनवर।।
हे मार्ग प्रदर्शक! परम हितैषी, सहज भक्ति उमड़ाती है।। 6।।

(दोहा)

अब तक अपनी भूल से, बना रहा अज्ञान।
आज समझ पाया प्रभो, चिन्मय तत्त्व महान।। 7।।

(3) आत्म-चिंतन

आतम रूप परम आनंदमय, ज्ञानमयी अविकारी।
आत्मन्! अन्तर माँहि विराजे, परम प्रभु हितकारी।। टेक।।
अर्हत् प्रभु की दिव्यध्वनि में, दिव्य रूप दर्शाया।
स्वयं सिद्ध प्रभु रूप निरामय, सिद्ध समान सु गाया।।
परभावों से शून्य तदपि है, गुण अनंत का धारी।। 1।।

अन्तर्मुख हो ज्ञानी जानें, सहज भावना भावें।
धन्य परम निर्ग्रन्थ मुनीश्वर, जिसको निशदिन ध्यावें।।
वही अहो दृष्टि में आया, ज्ञायक मंगलकारी।। 2।।
समझो-समझो चेतो! चेतन, बाहर सुख नहीं है।
मिथ्या पर की आशा छोड़ो, जग में सार यही है।।
निर्विकल्प हो, ध्याओ-ध्याओ, महातत्त्व सुखकारी।।3।।
अन्य न कोई आश्रय जग में, क्षण-भंगुर पर्यायें।
दुर्विकल्प छोड़ो दुखदायी, दृष्टिवंत शिव पायें।।
द्रव्यदृष्टि प्रगटाओ अब तो, हो चैतन्य विहारी।। 4।।

(4) प्रभु-मिलन

प्रभु का पर्याय में जब मिलन होयगा।
तो चिदानन्द का अनुभवन होयगा।। टेक।।
जब से प्रभु को सुना है लगी है लगन,
शुद्ध ध्रुव ज्ञानमय और आनन्दघन।
आधि-व्याधि तथा सब उपाधि रहित,
ऐसे प्रभु में ही परिणाम लय होयगा।। 1।।
अब तो अर्पण करूँ सब मैं प्रभु के लिए,
शाश्वत सुख लखूँ, निज का निज के लिए।
तृप्त होकर बनूँ, आशा-तृष्णा रहित,
मेरा प्रतिक्षण ही निज हेतु अब होयगा।। 2।।
प्रभु से मिलने की युक्ति बड़ी है सरल,
जिसको करने में मैं खुद ही हूँ बहु प्रबल।

है किसी की जरूरत मुझे अब नहीं,
मेरे अपने ही घर में मिलन होयगा।। 3।।
वस्तु में वस्तु के गुण निहित हैं सदा,
गुण भी गुण रूप से हैं व्यवस्थित सदा।
उनकी होती दशाएँ उपादान से,
मात्र स्वीकारने से भी सुख होयगा।। 4।।
और सब व्यर्थ हैं, यत्न यह सत्य है,
ग्रहण करके स्व, पर लक्ष्य सब त्यागना।
स्व ही तेरा वतन, स्व ही स्व का यतन,
स्व में रहने से ही तुझको सुख होयगा।। 5।।

(5) सम्यक् पुरुषार्थ

(तर्ज : शांतचित्त हो निर्विकल्प हो...)

नित्य निरंजन प्रभु परमेश्वर, अकृत्रिम शाश्वत भगवान।
रागादिक दोषों से न्यारा, ध्येय रूप आतम अम्लान।। 1।।
क्रोध नहीं है, काम नहीं है, नहीं लोभ, नहीं माया-मान।
सहज रूप निर्द्वन्द्व सदा ही, है निर्दण्ड-निर्ग्रन्थ महान।। 2।।
रोग न होवे, शोक न होवे, निर्विकल्प आनन्द स्वरूप।
क्षण-क्षण भाऊँ, अविरल ध्याऊँ, महिमामय चिद्रूप अनूप।। 3।।
हीन स्वयं को समझा भ्रम से, रहा ताकता पर की ओर।
हुआ आकुलित फिरा जगत में, किन्तु न देखा अपनी ओर।। 4।।
भव-भव में दुःख पाये स्वामिन् रहा भटकता चहुँगति में।
दैव योग से आ पहुँचा हूँ,श्रावक कुल में, नरगति में।। 5।।

दिव्य देशना मिली भाग्य से, प्रगटा उर में तत्त्वज्ञान।
पर भावों से भिन्न ज्ञान में, भासा निज ज्ञायक भगवान।। 6।।
न्यारे भासें देहादिक पर, रागादि दुख रूप लगे।
वीतराग-विज्ञान भाव प्रभु शिवकारण शिवरूप लगे।। 7।।
धन्य हुआ कृतकृत्य हुआ प्रभु, समता का संचार हुआ।
अपनी निधि अपने में प्रगटी, आनंद अपरम्पार हुआ।। 8।।
मोहमयी जग के सब रिश्ते, दीखें आज असार प्रभो।
सारभूत बस एकहि भासे, समयसार अविकार अहो।। 9।।
उदासीनता हुई सहज निज शुद्धातम ही एक सुहाय।
होगी धन्य घड़ी हे जिनवर, जब निर्ग्रन्थ दशा विलसाय।। 10।।
यथाजात जिनमुद्रा होवे, अंतर-बाहर सहज पवित्र।
निरतिचार व्रत संयम होवे, हो सुमेरु सम अचलित चित्त।। 11।।
मैत्री भाव सर्व जीवों प्रति, गुणीजनों प्रति परम प्रमोद।
दुखियों के प्रति होवे करुणा, नहीं दुर्जनों पर भी क्षोभ।। 12।।
रहे सहज माध्यस्थ भाव प्रभु निर्विकल्प कल्याणमयी।
सहज निराकुल निस्पृह होवे परिणति ज्ञानानन्दमयी।। 13।।
अप्रमत्त आदर्श रूप हो, चर्या आगम के अनुसार।
नहीं अपेक्षा कभी किसी की, जीवन हो अपने आधार।। 14।।
पापोदय या पुण्योदय हो, ज्ञेयमात्र ही रहे सदा।
निजानंद में तृप्त रहूँ प्रभु, राग-द्वेष जागें न कदा।। 15।।
लेशमात्र भी नहीं आडम्बर, सावधान निज माँहि रहूँ।
हो प्रमुदित एकाकी स्वामिन्, सब परीषह-उपसर्ग सहूँ।। 16।।

अद्‌भुत चेतन चमत्कार प्रभु, दीख रहा अपने में ही।
जग के झूठे चमत्कार अब, भावें नहीं सपने में भी।। 17।।
अहो! अतीन्द्रिय ज्ञान-ज्ञान है और अतीन्द्रिय सुख ही सुख।
इन्द्रिय ज्ञान अज्ञान रूप है, इन्द्रिय सुख भी प्रत्यक्ष दुःख।। 18।।
चाह नहीं कुछ शेष नाथ, बस पाऊँ निज में ही विश्राम।
रहूँ निशल्य ध्यान में वर्ते, सहजपने इक आतम राम।। 19।।
ध्यान अग्नि में जलें सर्व ही, दुखमय वैभाविक परिणाम।
होवे प्रगट अनंत चतुष्टय, श्री अरहंत दशा अभिराम।। 20।।
योग विनष्टे कर्म रहित हो, पाऊँ अविनाशी शिवधाम।
नित्य निरंजन रहे परिणति, आवागमन विमुक्त ललाम।। 21।।
रहें नाथ! आदर्श आप, सम्यक् पुरुषार्थ स्वयं में हो।
द्रव्य नमन हो, भाव नमन हो, सहज नमन अंतर में हो।। 22।।
सहज प्राप्य है, सदा प्राप्य है, अपना पद अपने में ही।
तृप्त रहूँ संतुष्ट रहूँ प्रभु, मग्न रहूँ अपने में ही।। 23।।

(6) सिद्ध पद की भावना

(तर्ज : शांत चित्त हो निर्विकल्प हो...)

कब माया जाल विकल्प तजूँ, अविनाशी निज पद को ध्याऊँ।
मन-वचन-काय है भिन्न सदा, मुझसे यह बात हिये लाऊँ।। 1।।
सुख की परिभाषा सत्य गहूँ, सुख हेतु नहीं पर पद चाहूँ।
नहिं इष्ट वियोग में क्लेश करूँ, संयोग स्वयं ही ठुकराऊँ।। 2।।
धन-वैभव तो दुःख रूप, महा-आकुलता जनक कहाता है।
इनके फन्दे में फँसा जीव, निश्चिंत नहीं हो पाता है।। 3।।

है महामूढ़ दृष्टि यह भी, काया में तन्मय होता है।
जब यथाजात पद को धारे, तब ही अविचल सुख होता है।। 4।।
काया से होवे नग्न तथा भावों से सदा दिगम्बर हो।
दश बाह्य परिग्रह तजे हुए, भीतर न राग का अम्बर हो।। 5।।
मन में आत्मा का ध्यान सदा, वाणी स्वरूप को कहती हो।
उपसर्गों में भी समता हो, परिणति निज में ही रहती हो।। 6।।
पंच महाव्रत समिति-गुप्तियों का, कब सम्यक् पालन हो।
पंच इन्द्रियाँ वश में होवें, नग्न रूप थिर धारण हो।। 7।।
षट्-आवश्यक नित्य पलें, एक बार खड़े ही हो भोजन।
केश लौंच निद्रा सीमित, मंजन मज्जन का भी त्यागन।। 8।।
शुद्धोपयोग मुनिधर्म सही, अट्ठाईस गुण व्यवहार कहे।
इनके विकल्प से रहित परिणति, निज स्वभाव में लीन रहे।। 9।।
पृथकत्व वितर्क ध्यान द्वारा, चारित्र मोहनीय भी विनशे।
एकत्व ध्यान अविचल द्वारा, निज अनंत चतुष्टय रूप लसे।। 10।।
फिर सूक्ष्म योग से रहित अयोगी, दशा धन्य सहजहि होगी।
काया अरु कर्म सभी छूटें, ध्रुव सिद्ध दशा क्षण में होगी।। 11।।
लोकाग्र शिखर पर सिद्ध शिला, तनुवात वलय में वास रहे।
फिर कभी न भव में आना हो, सादि अनंत तक अचल रहें।। 12।।

(7) आत्म-संबोधन

अरे आत्मन्! जरा विचारो, क्यों ये मूर्खता करते हो।
दुख से जब तुम डरते हो, क्यों दुख का साधन करते हो।। 1।।
बार-बार ये देख चुके हो, कोई नहीं संग निभाता है।
फिर भी पर में अपनत्व मान, क्यों दर-दर ठोकर खाते हो।। 2।।

मिथ्या मान्यता से दु:ख पावे, कोई सुख-दु:ख देय नहीं।
छोड़ो-छोड़ो अब तो कुटेव, भव सिन्धु क्यों अब पड़ते हो।। 3।।
क्यों कुगुरु-कुदेव-कुधर्मों में फँस, दु:खों को न्योता देते हो।
तत्त्वों का निर्णय नहीं करते, नहीं आत्म स्वभाव समझते हो।। 4।।
विषयों में सुख की भ्रान्ति से तुम मग्न उन्हीं में रहते हो।
पर भविष्य के जीवन की, किंचित् परवाह न करते हो।। 5।।
अरे! विचारो सुखाभास, ये सच्चे सुख के घातक हैं।
ये तो प्रत्यक्ष महा दु:खमय, क्यों नहीं अब इनसे हटते हो।। 6।।
चिरकाल से आत्म स्वरूप भुला, तुम पर में मग्न रहे निशदिन।
भव-भव में धोखा खाकर भी, क्यों अब भी नहीं संभलते हो।। 7।।
ये तो सौभाग्य तुम्हारा है, श्रावक कुल जिनवृष पाया है।
अब भेदज्ञान द्वारा 'आत्मन्' क्यों नहीं आतम हित करते हो।। 8।।
यह अवसर बड़ा अमूल्य हाथ से जाने पर नहीं आयेगा।
अतः समझ सुन चेत सयाने, क्यों गाफिल हो यों रहते हो।। 9।।

(8) निश्चय-शरण

(तर्ज : रे जीव तू अपना स्वरूप...)

जिस वस्तु का जिस क्षेत्र में,जिस काल में जो परिणमन।
भवितव्य है वह होयगा, उसमें न हो किंचित् फिरन।।
सब सोच तज कर आत्मन्! चैतन्य प्रभु का कर भजन।
आनंदमय निज आत्मा ही, जगत में निश्चय शरण।। 1।।
जाने बिना शुद्धात्मा, संसार में भ्रमता फिरा।
इक बोधि लाभ बिना अरे,बहु भाँति दु:ख सहता रहा।।

अवसर मिला पुरुषार्थ कर, होगा सहज निज अनुभवन।
आनंदमय निज आत्मा ही, जगत में निश्चय शरण।। 2।।
है कर्मबन्ध अनादि से, फिर भी अहो निर्बन्ध है।
निःकलंक है, निष्पाप है, नीराग है, निर्द्वन्द्व है।।
सहज पावन, पतित-पावन, है प्रभो! तारन-तरन।
आनंदमय निज आत्मा ही, जगत में निश्चय शरण।। 3।।
पर्याय से व्यतिरिक्त है, गुण भेद से भी भिन्न है।
अविशेष ध्रुव चिन्मात्र प्रभु पक्षातिक्रान्त अभिन्न है।।
अतीन्द्रिय अव्यक्त शाश्वत, व्यक्त नित मंगल-करन।
आनंदमय निज आत्मा ही, जगत में निश्चय शरण।। 4।।

(9) सहज-भावना

(तर्ज : महा सुख होय, जिनपद पूजे शिव सुख होय...)

परम इष्ट निज ज्ञायक भाव, शाश्वत शिव स्वरूप निजभाव।
यों लख जब अन्तर्मुख भयो, स्वयं-स्वयं में तृप्त सु भयो।। 1।।
सर्व पाप नाशे दुखकार, प्रगटी प्रभुता अपरम्पार।
ध्रुव मंगल लोकोत्तम सार, सहज शरण आतम अविकार।। 2।।
हुआ कृतार्थ दर्श से देव, जगी भक्ति अंतर स्वयमेव।
जगा सहज आराधक भाव, निज पद आराधन का चाव।। 3।।
सारभूत प्रभु सहज पवित्र, अहो शुद्ध चिद्रूप सु नित्य।
अपराजित नित ध्येय स्वरूप, परम ब्रह्म परमातम रूप।। 4।।
नित्य मुक्त आतम भगवान, सर्व सम्पदाओं की खान।
स्वयं सिद्ध प्रभु सहज प्रसिद्ध, सर्वोत्तम आराध्य विशुद्ध।। 5।।

रही न चिन्ता चाह लगार, सहज जनावे जाननहार।
वर्ते ध्यान सहज अभिराम, निज में ही पाऊँ विश्राम।। 6।।
जय अनन्त धर्मात्मक तत्त्व, चिदानंदमय अपना सत्व।
सर्व प्रकार सहज आराध्य, एक अभेद ही साधन साध्य।। 7।।
परमप्रभु अमृतमय जान, नाहिं आदि-मध्य अवसान।
अद्भुत ललित विभव सम्पन्न, चित्प्रकाशमय पूर्ण प्रसन्न।। 8।।
सहज विमल महिमा सुखकार, निज प्रभु सर्व स्वस्ति दातार।
सिद्धालय ज्यों सिद्ध भगवन्त, त्यों अन्तर में ही विलसन्त।। 9।।
अनुभव माँहि प्रत्यक्ष दिखाय, हुई प्रतीति सहज सुखदाय।
हुआ निशल्य निरीह निराश, अपना सर्वस्व अपने पास।। 10।।
धनि-धनि तीर्थनाथ भगवंत, धनि-धनि आत्म-अनुभवी संत।
मार्ग यथानुभूत सुखकार, दर्शायो जग में अविकार।। 11।।
रहो नाथ आदर्श स्वरूप, मैं भी आराधूँ निज रूप।
मग्न हुआ चैतन्य ऋद्धि पाय, बाह्य ऋद्धियाँ कुछ न सुहाय।। 12।।
कब वह धन्य घड़ी प्रभु आय, यथाजात तन रूप रहाय।
हो निर्ग्रन्थ सहज पद ध्याय, निज अक्षय प्रभुता विलसाय।। 13।।
ध्रुव शुद्धातम स्वस्ति रूप, हो आराधन स्वस्ति रूप।
नाथ निरंजन स्वस्ति रूप, निर्विकल्प रहूँ स्वस्ति रूप।। 14।।

(10) निज-वैभव

(तर्ज : हे चेतन तुम शांत चित्त हो...)

क्या कथा कहूँ निज वैभव की, निज वैभव है अनुपम जग में।
जिनने विश्वास किया ध्याया, शाश्वत सुख पाया क्षण भर में।। 1।।

निज को भूले भव-भव भटके, निज पहिचाने शिवमग प्रकटे।
सिद्धत्व-स्वभाव के आश्रय से, सिद्धत्व दशा पावे क्षण में।। 2।।
जब सम्यग्ज्ञान प्रकाश होय, मिथ्यात्व तिमिर नहीं दिखता है।
तब अक्ष-विषय तो दूर रहें, नहीं किंचित् प्रीति रहे तन में।। 3।।
सुख बुद्धि पर में छूट गयी, भोगे नहीं मात्र भुगतता है।
किंचित् न सुहाता है बाहर, पुरुषार्थ धरे वह अन्तर में।। 4।।
कु-कथा सुनने को बधिर हुआ, विकथा करने में मूक अरे।
विषयों के हेतु नपुंसक वह, मनहीन अहित के चिन्तन में।। 5।।
इष्ट-अनिष्ट कल्पना दूर हुई, नहिं राग-द्वेष की भ्रान्ति रही।
निज तत्त्व स्वरूप संभाल रहा, बल प्रगटा समता धारण में।। 6।।
थिरता निज में बढ़ती जाती, कर्मादिक खुद ही भग जावें।
आनन्दमयी निष्कर्म दशा, ज्ञानी को तब प्रगटे क्षण में।। 7।।
फिर सादि अनंत सुखी रहता, लोकाग्र शिखर पै वास रहे।
ध्रुव अचल सिद्ध गति पाई है, नहीं भ्रमण करे फिर भववन में।।8।।

(11) ध्रुव की धुन

(तर्ज : हे चेतन तुम शांत चित्त हो...)

मग्न सहज ध्रुव की धुन में ही, अन्य न कुछ करना।
ये ही साधन शिव पाने का, स्वयं स्वतः तिरना।। टेक।।
बुद्धि कर्तृत्व की दूर अरे, नहीं विकल्प भी करना।
करना-मरना एकहि जाना, नाहिं भव धरना।। 1।।
पर्यय की पामरता को तो, भिन्न भी नहीं लखना।
सर्वथा अन्तर्मुख होकर, निज प्रभुता ही भजना।। 2।।

स्वाभाविक प्रभुता ध्याते, निज प्रभुता विस्तरना।
तज प्रमाद अब सावधान हो, निज-कारज करना।। 3।।
व्याकुल हो पर चिन्ता में, नहिं आत्मघात करना।
चूक न जाना दुर्लभ अवसर, अनुभव चित धरना।। 4।।
पर हित में भी निमित्त अनुभवी, सहज भाव धरना।
शुद्ध चिद्रूप भावना भाना, थिरता ही धरना।। 5।।
पर भावों में इष्ट-अनिष्ट का नहिं विकल्प करना।
ज्ञानवान हो धैर्यवान हो, समता ही धरना।। 6।।
सहज प्राप्य अपने अन्तर में, ज्ञानामृत पीना।
होकर क्षुब्ध न धर्म लजाना, सहज तृप्त रहना।। 7।।
वस्तु स्वरूप विचार खुशी से, सब संकट सहना।
हूँ निरपेक्ष सहज ज्ञाता प्रभु, ज्ञाता ही रहना।। 8।।

(12) सच्चा-सुख

(तर्ज : कह सकूँ नहीं हुआ मोहि...)

निज आत्मा में सुख अनन्ता, नहीं उसको जोहते।
आत्मा के सुख को तुम, बाह्य में है खोजते।। 1।।
तुम स्वयं ही यह विचारो, वस्तु जो घर में पड़ी।
खोजें चौराहे पै उसको, मूर्खता ये है बड़ी।। 2।।
बस यही हाल तेरा, पर से आशावान तू।
भ्रम के वश भूला हुआ, पर है स्वयं धनवान तू।। 3।।
नहीं निज की ओर देखे, सुख प्रभु से माँगता।
वीतरागी देव को भी, तू सरागी जानता।। 4।।

मोह–राग–द्वेष तेरा, महादुःख का हेतु है।
वीतरागी परिणति ही, महामंगल सेतु है।। 5।।
ये ही सच्चा धर्म, नाहीं राग कोई धर्म है।
वीतरागी देव की भी भक्ति, आदि न धर्म है।। 6।।
पूजा–दर्शन–शास्त्र–अध्ययन, पुण्य बन्धन हेतु हैं।
उसका फल संसार ही है, मोक्ष नाहिं देत हैं।। 7।।
ये विकल्प भी छूटते तब निर्विकल्प सु होत हैं।
दुःख सभी नाशें सहज ही, होय सुख उद्योत हैं।। 8।।
इस प्रकार सु जानकार तुम, बाह्य दृष्टि तोड़ना।
आत्मा में लीन होओ, निज को निज में जोड़ना।। 9।।

(13) ध्येय

(तर्ज : ज्ञान ही सुख है, राग ही...)

एक ही श्रेय है, एक ही ध्येय है।
एक शुद्धात्मा ही उपादेय है।। टेक।।
पर का आश्रय करे ये महा–भूल है,
उससे उठता विकल्पों का जंजाल है।
जाल खुद ही बुने स्वयं उसमें फँसे,
फिर तू मूरख रहे कैसे खुशहाल है।।
पर में इष्ट–अनिष्ट विचारे मगर,
ये तो समरूप से ज्ञान का ज्ञेय है।। 1।।
होती पर्याय क्रमबद्ध कहता रहे,
फिर भी 'ऐसा हुआ क्यों' ये सोचा करे।

योग्यता तत्समय की है कारण नियत,
फिर कहाँ है विकल्पों का अवसर अरे।।
छोड़ दे चिन्ता, भज ले तू निज भाव को,
भ्रात समता ही तेरा परम पेय है।। 2।।
गुण अगुरुलघु रहें, हानि-वृद्धि नहीं,
तेरा वैभव सदा एक सा ही रहे।
फिर भी अनुभव करे हीनता वृद्धि का,
मूढ़ कैसे विकल्पों का सागर तरे।।
सिंधु में लहरें केवल सतह पर दिखे,
उर में रत्नों की खान अपरिमेय है।। 3।।
भव्य! सौभाग्य से तुझको अवसर मिला,
रूप निज देखने को सुदर्पण मिला।
जिन-गुरु-शास्त्र का है समागम मिला,
है कमल कैसा रवि से भी जो ना खिला।।
चिच्चमत्कार शाश्वत निजानन्दमय,
सिद्ध पद साधना का परम ध्येय है।। 4।।

(14) सुख का उपाय

सुख का है एक उपाय यही।
पूर्णानंदमय आतम अनुभव, सुख का एक उपाय यही।। टेक।।
करने का अवकाश न जिसमें, पूर्ण प्रभु सुखधाम है।
स्वाश्रय पूर्वक स्वयं होय सुख, वस्तु व्यवस्था सहज यही।। 1।।
इन्द्रिय सुख तो दुखमूल है, अतीन्द्रिय सुख की वांछा।
आकुलतामय दुःखरूप ही, जिनशासन में प्रभु कही।। 2।।

परमात्मा को सुखी बनाने का, ज्यों कभी विकल्प न हो।
विस्मय शाश्वत परमात्मा का, सहज रूप सुख दिखे नहीं।। 3।।
जोड़े नाना सामग्री, भोगों में सुख पापी ढूंढे।
व्यवहारी भी रचे पुण्य में, पावे सुख का लेश नहीं।। 4।।
चिन्ते रत्नत्रय प्रगटे तो, जीवन सुखमय हो जावे।
पर्यय दृष्टि धरे मूढ़, सम्यक् रत्नत्रय लहे नहीं।। 5।।
रत्नत्रय सुख का कारण, अर्थात् नहीं सुख को करना।
रवि ज्यों सहज प्रकाश पुंज, त्यों सहजानंदमय जीव सही।। 6।।
हो जब सम्यक् सहज प्रतीति, स्वयं स्वतः सुख दिख जाता।
स्वयं-स्वयं में थिरता होवे, सहजहि पावे मुक्तिमही।। 7।।
दुर्विकल्प तज अब तो 'आत्मन्' सम्यक् भेद विज्ञान करो।
अंतर में ही अमृत झरता, तृप्त रहो गुरु सीख यही।। 8।।

(15) आत्मन्-संबोधन !

पर की चिंता त्याग आत्मन्! आतम हित में लाग।
तोड़ सकल जग द्वन्द्व-फन्द, तू निज स्वभाव में पाग।।टेक।।
पर से कुछ सम्बन्ध नहीं है, स्व-स्वामित्व अभाव।
नहीं कर्तृत्त्व सु दो द्रव्यों में, है अत्यन्ताभाव।। 1।।
कार्य विकल्पों से नहीं होवे, है स्वाधीन स्वभाव।
होने योग्य सु होय परिणमन, आराधो निज-भाव।। 2।।
निज-निज कर्मों के फल से ही, बने अनादि बनाव।
कर्म न कोई देवे लेवे, तू क्यों करे विभाव।। 3।।
सभी जीव दुःख सुख को वेदें, जैसे होवें भाव।
अज्ञानी नित रहे आकुलित, भले करे सुख चाव।। 4।।

ज्ञानी भेदज्ञान के बल से, धारें समता भाव।
पूर्व कर्म तब झड़ते जावें, ये ही सत्य उपाव।। 5।।
अखिल विश्व में कुछ भी करने का, न दिखे अवकाश।
दृष्टा-ज्ञाता रहो सहज ही, सुख है अपने पास।। 6।।
भूल स्वयं को जो दुःख पावे, सुखी करे फिर कौन।
निजानंद रस निज में वेदे, दुःखी करे फिर कौन।। 7।।
रहो सहज निर्भार 'आत्मन्' झूठे अध्यवसान।
ये संसार चलेगा यों ही साधो साध्य महान।। 8।।

(16) अपने में सावधान

सावधान रहना अपने में, सावधान रहना।
सावधान रहना प्रतिक्षण ही, सावधान रहना।। टेक।।
पर्यायें बदलें क्षण-क्षण में, मत इनमें बहना।
शुद्ध चिदानन्द रूप भूल, इनको मत निज कहना।। 1।।
अरे! विकल्पों जैसा भी, कुछ कार्य दिखाई देवे।
होता हुआ स्वतंत्र समझकर, ज्ञाता ही रहना।। 2।।
विषयों में कुछ सुख सा दीखे, भेदज्ञान उर धरना।
हड्डी में से स्वाद समझ, मत कुत्ते सम मरना।। 3।।
ज्ञेयों में से ज्ञान न आवे, सहज निस्पृही ही रहना।
व्यर्थ राग में नहीं अटकना, ध्रुव दृष्टि धरना।। 4।।
पुण्योदय में भूल न जाना, जग ख्याति से बचना।
पर परिचय से उदासीन रह, निज साधन करना।। 5।।
परम पुरुष आदर्श बनाओ, गुण ग्रहण करना।
दोषों का अनुकरण न करना, संयम में चित धरना।। 6।।

पर अवलम्बन नहीं चाहना, दैन्य नहीं लाना।
धीर-वीर हो सहज पने, घोर परीषह सहना।। 7।।
नहीं लजाना धर्म कभी, मर्यादा नहीं खोना।
चाहे प्राण भले ही जावें, निज में दृढ़ रहना।। 8।।
उत्तम रत्नत्रय पथ पाया, आगे बढ़ते ही जाना।
अहो! भावना निर्मल रखना, छल ग्रहण नहीं करना।। 9।।
अहो पूर्ण निष्कर्म अवस्था, परम साध्य तेरा।
परम तत्त्व का आराधन कर, सहज साध्य है पाना।। 10।।
ब्रह्मचर्य है रत्न अनूपम, खेल-खिलौना ना।
महाभाग्य से पाया, नव बाढ़ों से रक्षा करना।। 11।।
अतीचार लगने नहीं पावे, ब्रह्म भावना भाना।
सुविधाओं में रीझ-रीझ, आलस्य नहीं करना।। 12।।
जितनी शक्ति हो उतना पालन निश्चय करना।
शक्ति न दीखे तो भी श्रद्धा सम्यक् ही धरना।। 13।।
नहीं लोपना मार्ग कभी, अवर्णवाद नहीं करना।
दोष लगें तो प्रायश्चित से भाव शुद्ध करना।। 14।।
होना नहीं भयभीत प्रलोभन में भी नहीं फँसना।
जग की बातों में आकर, निज संयम नहीं खोना।। 15।।
चूक न जाना अवसर, अविरल शिवपथ में बढ़ना।
स्वानुभूतिमय पथ पर चलकर, अक्षय पद पाना।। 16।।

(17) आत्महित की भावना

(तर्ज : शांत चित्त हो निर्विकल्प हो...)

पुण्य-पाप का खेल समझकर, समता भाव धरो।
पर द्रव्यों में व्यर्थ आत्मन्, राग अरु द्वेष तजो।। टेक।।
कण-कण है स्वाधीन जगत का, तुम निश्चय मानो।
पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना, मिथ्या सब जानो।। 1।।
पापोदय में जो-जो परिणति,तुमको लगती है प्रतिकूल।
पुण्योदय में उनकी परिणति, सहज भासती है अनुकूल।।2।।
देखो-देखो द्रव्यदृष्टि से, निज में तृप्त रहो।
सहज भाव से सब उपसर्ग, परीषह भव्य सहो।। 3।।
पर-निरपेक्ष सहज स्वाश्रय का, मार्ग जिनागम में गाया।
पर-सापेक्ष कभी कोई नहिं, आत्माराधन कर पाया।। 4।।
व्यर्थ नहीं उपयोग भ्रमाओ, धैर्य धरो अभ्यास करो।
अंतर में पुरुषार्थ बढ़ाओ, मिथ्या पर की आस तजो।। 5।।
इच्छाओं की पूर्ति न होगी, झूठे सपने मत देखो।
जो कुछ जैसा हो होने दो, तुम तो आतमहित देखो।। 6।।
होनहार का कर विचार,निर्द्वन्द्व-निराकुल नित्य रहो।
साधो ! निज परमारथ साधो, चाह-दाह में नहीं दहो।। 7।।
अति दुर्लभ जिनशासन पाया, सर्व सुयोग मिले हैं आय।
ऐसा अवसर नहीं चूकना, नातर भव में ही भरमाय।। 8।।

(18) निज-निधि

(तर्ज : अपनी सुधि भूल आप...)

धन्य-धन्य अपनी सुधि पाई आनंद भयो,
अस्थिरता वश ऐसी भावना जगाई है।
भावना विकल्प रूप मेरो स्वरूप नाहीं,
निर्विकल्प पूर्ण प्रभु, दीखे सदा ही है।। टेक।।
निज में मगन होऊँ, बाहर नगन होऊँ,
अंतर में मंगल हो, जंगल गवाही हो।
आत्मीक वैभव में मग्न रहूँ आठों याम,
देह दशा माहीं भी उदासी ही छाई हो।। अस्थिरता. ।। 1 ।।
जगत से निरपेक्ष ध्याऊँ स्वभाव निज,
आत्मीक आनंद की, धारा-प्रवाही हो।
चाहे जो परिस्थिति, उदय भी हो चाहे जो,
सहज ज्ञानधारा ही वर्ते सदा ही हो।। अस्थिरता. ।। 2 ।।
ज्ञायक में अहंपना, ज्ञेयों में समता हो,
किंचित् न मोह-क्षोभ रूप विकलताई हो।
ज्ञायक ही सहज ज्ञेय होवे अभेदपने,
अपनी निधि अपने में सहजपने पाई हो।। अस्थिरता. ।। 3 ।।
सहज तृप्त, सहज पूर्ण, निर्विकल्प अनुभव हो,
पक्ष भेद की भी नहीं, कल्पना रहाई हो।
वांछा न मुक्ति की भी, सहज मुक्त जीवन हो,
धन्य-धन्य साधु दशा, सहजपने आई हो।। अस्थिरता. ।। 4 ।।

ध्येय रूप का ही ध्यान, चिन्ता निरोध जहाँ,
वैभाविक परिणति न देती दिखाई हो।
प्रगटे अरहन्त दशा कैवल्य लक्ष्मी हो,
अविनाशी अनुपम निज प्रभुता प्रगटाई हो।। अस्थिरता.।।5।।
योग का निरोध होवे, देह का वियोग होवे,
कर्मों की सेना समूल ही भगाई हो।
व्यवहारे सिद्धालय, निश्चय से ज्ञानालय,
होवे निवास ध्रुव, अचल गति पाई हो।। अस्थिरता.।।6।।

(19) मेरा प्रभु

मेरा प्रभु मुझमें ही आज दीखे मुझे।
अब न किंचित् जरूरत जगत की मुझे।। टेक।।
परिणमन होता सब ही स्वतंत्रपने।
मेरा कर्त्तृत्व किंचित् न दीखे मुझे।। 1।।
स्व की अस्ति में, पर की है नास्ति सदा।
मुझमें पर भाव किंचित् न दीखे मुझे।। 2।।
एक रूप अभेद सु निष्क्रिय अहो।
भेदमात्र नहीं मुझमें दीखे मुझे।। 3।।
कार्य परमात्मा सादि अनंत है।
मेरा कारण प्रभु शाश्वत दीखे मुझे।। 4।।
मोक्ष होना हो तब हो, न दरकार है।
सहज मुक्त स्वभाव सु दीखे मुझे।। 5।।
मेरे ज्ञान में ज्ञान हि ज्ञान अहो।
दूसरा और कुछ भी न दीखे मुझे।। 6।।

तृप्त ही हूँ विकल्प नहीं कुछ रहें।
सहज आनंदमय जीवन दीखे मुझे।। 7।।
कहाँ की कषायें, कर्म भव गति।
मेरे चिद्रूप में, कुछ न दीखे मुझे।। 8।।
पारिणामिक परम ध्रुव, सहज शान्त है।
मुझमें उत्पाद-व्यय भी न दीखे मुझे।। 9।।
महिमा आनन्दमय आदि-अन्त नहीं।
मेरा वैभव खुला आज दीखे मुझे।। 10।।
स्वांग दीखे नहीं, मोह उपजे नहीं।
मेरा सहज स्वरूप ही दीखे मुझे।। 11।।

(20) निष्काम-भावना

(तर्ज : रे जीव तू अपना स्वरूप...)

नहीं कुछ भी मुझे करना, सहज निष्काम ज्ञायक हूँ।। टेक।।
नहीं सुनना-सुनाना कुछ, नहीं पढ़ना-पढ़ाना कुछ।
नहीं लखना-लखाना कुछ, सदा निष्काम चेतन हूँ।। 1।।
नहीं लेना-नहीं देना, नहीं करना-कराना कुछ।
नहीं चिन्ता-नहीं चिन्तन, सदा निष्क्रिय चेतन हूँ।। 2।।
स्वयं में पूर्ण पारिणामिक, नहीं कुछ भी कमी दीखे।
अपेक्षा कुछ नहीं पर से, सहज सुखकन्द चेतन हूँ।। 3।।
नहीं निंदा से कुछ हानि, लाभ कुछ ना प्रशंसा से।
नहीं हानि-नहीं वृद्धि, अगुरुलघु रूप चेतन हूँ।। 4।।
नहीं अच्छा-बुरा कोई, नहीं रिपु-मित्र भी कोई।
सदा पर से रहूँ न्यारा, स्वयं में पूर्ण चेतन हूँ।। 5।।

नहीं स्वामी कोई मेरा, किसी का मैं भी नहीं स्वामी।
नहीं कर्त्ता, नहीं भोक्ता, सहज ही तृप्त चेतन हूँ।। 6।।
द्रव्य षट् तत्त्व नौ न्यारे, भाव पाँचों सदा न्यारे।
नहीं उत्पाद-व्यय मुझमें, प्रभु ध्रुव रूप चेतन हूँ।। 7।।
नहीं आधि नहीं व्याधि, उपाधि कुछ नहीं मुझमें।
अहो! शाश्वत समाधिमय, निरंजन नित्य चेतन हूँ।। 8।।
नहीं जाना मुझे तीरथ, तीर्थ शुद्धात्मा मैं हूँ।
किसे पूजूँ, किसे ध्याऊँ, सहज ही पूज्य चेतन हूँ।। 9।।
नहीं व्रत शील तप संयम, समिति गुप्ति और दशलक्षण।
नहीं रत्नत्रय चाहूँ, प्रभु परिपूर्ण चेतन हूँ।। 10।।
नहीं अब धर्म करना है, धर्म मुझसे सहज प्रगटे।
अहो! चिन्मय परमधर्मी, धर्म की खान चेतन हूँ।। 11।।
नहीं संसार हरना है, नहीं मुक्ति को करना है।
नहीं श्रद्धा, नहीं ध्यान, ध्येय श्रद्धेय चेतन हूँ।। 12।।
अरे! करना तो मरना है, अनादर प्रभु का है इसमें।
दिखे अन्तर में प्रभु मेरा, स्वयं सिद्ध रूप चेतन हूँ।। 13।।

(21) अकर्त्तृत्व दशक

(तर्ज : आत्मन् अपनी वैभव गाथा...)

जिसका चिन्तन करते प्रतिक्षण, वह बहुत दूर रह जाता है।
जो नहीं स्वप्न में भी सोचें, वह सन्मुख ही आ जाता है।। 1।।
जिसको हम मित्र समझते हैं, वह ही शत्रु बन जाता है।
जिसको हम मन में अरि समझे, वह मित्रपना दरशाता है।। 2।।

है सभी व्यवस्था बनी हुई, क्यों मूढ़ व्यर्थ अकुलाता है।
वस्तु-स्वभाव पर श्रद्धा कर, क्यों धैर्य नहीं तू लाता है।। 3।।
हे आत्मन्! व्यर्थ ही खेद करे, दुःख से दुःख तो बढ़ जाता है।
पर दुःख का अनुभव करने से, सुख कोई कभी न पाता है।। 4।।
हे भव्य! करो द्रव्यदृष्टि तनिक, दुःख का किंचित् अस्तित्व नहीं।
है कार्य स्वयं होता सबका, पर में तेरा वस्तुत्व नहीं।। 5।।
खुद ही होते को करना क्या? अरु ना होते को करना क्या?
अकार्य-अकर्त्ता-अकारक, फिर करना चिंते मरना क्या।। 6।।
है कार्य मात्र पर्याय अरे, उसका तुझसे सम्बम्ध नहीं ।
पर्याय काल से खण्डित है, पर तुझमें कोई खण्ड नहीं।। 7।।
तुमको अनेकता जो दिखती, सब ही को क्षण भर गौण करो।
उसमें जो एक रूप व्यापक, चैतन्य भाव अनुभवन करो।। 8।।
बस सभी कार्य पूरे होंगे, सुख का सागर लहरायेगा।
कर्त्तृत्व विकल्प रहित सुखमय, परमात्म दशा तू पायेगा।। 9।।
वह दशा नहीं फिर छूटेगी ,सादि अनंत तक बनी रहे।
ज्यों मणि की ज्योति न फीकी हो,बस मणि में अविचल सनी रहे।। 10।।

(22) ज्ञानमय-आराधना

(तर्ज : आत्मन् अपनी वैभव गाथा...)

अवलम्बन एक आपका ही, शुद्धातम ही तारणहार प्रभो।
शुद्धात्म स्वरूप दिखाकर प्रभु,करते भव से उद्धार अहो।। 1।।
निज शुद्धातम के सिवा जगत में, दिखे न कोई अपना है।
झूठी है आश पराई भव सुख मृगतृष्णा अरु सपना है।। 2।।

देखे जहँ सुख की आशा से, वहाँ भीषण दुखमय ज्वाला है।
घाते अनुभूति होश हरे, वह अरे हलाहल हाला है।। 3।।
आत्मानुभूति ही महामंत्र, जो मोह महा विष नाशक है।
आत्मानुभूति ही परमानंदमय, स्व-पर विवेक प्रकाशक है।।4।।
निज रस का वेदन होते ही, पुरुषार्थ ढले खुद अंतर में।
बाहर में कुछ न सुहाता है, उपयोग रमे खुद अंतर में।। 5।।
विभु! धन्य भाग्य दर्शन पाया, आनंद हृदय में छाया है।
अब नहीं विभावों की चिंता, निरपेक्ष परम ध्रुव ध्याया है।।6।।
मेरे स्वरूप में है ही नहीं, मैं तो हूँ ज्ञाता रूप सदा।
छोड़ूँ न कभी निज रूप अरे, होता नाहिं पर रूप कदा।। 7।।
जब दृष्टि ध्रुव पर आन टिकी, तब कैसे भव भरमाऊँगा।
निश्चय ही शीघ्र प्रभो! तुम संग मैं भी सिद्धालय आऊँगा।।8।।
हे परमोपकारी! तृप्त हुआ, कृतकृत्य हुआ मानो मुक्त हुआ।
है निर्विकल्प अद्वैत नमन, निज में निज से संतुष्ट हुआ।। 9।।
खेद नहीं प्रतिकूल में, अनुकूल में नहिं मान हो।
तृप्त निज में ही रहूँ, उपयोग में उपयोग हो।। 10।।
ज्ञानमय आराधना, प्रतिक्षण सहज निष्काम हो।
प्रभु! आप सम आनंदमय, समता सु आठों याम हो।। 11।।
निश्चिंत निज में ही रहूँ, निर्द्वन्द्व आनंदमय सदा।
परभाव हों संयोग में, उनरूप नहीं होऊँ कदा।। 12।।
हूँ नित्य जाननहार प्रभु, अक्षुण्ण प्रभुतावान हूँ।
अनुभूति ज्ञानानन्दमय मैं सहज ही भगवान हूँ।। 13।।

(23) निर्विकल्प-भावना

(दोहा)

निर्विकल्प मम तत्त्व है, निर्विकल्प हुई दृष्टि।
निर्विकल्प आनंदमय, आज दिखे सब सृष्टि।। 1।।
परिवर्तनमय जगत में, ध्रुव ज्ञायक ही सार।
अध्रुव की चिंता नहीं, मैं तो ध्रुव अविकार।। 2।।
तुमको ज्ञायक देखकर, निज ज्ञायक सुधि आय।
यही भावना आप सम, स्थिरता प्रगटाय।। 3।।
आता-जाता कुछ नहीं, किंचित् हो न विकार।
स्वयं सिद्ध चैतन्य प्रभु, अन्तर माँहि निहार।। 4।।
ज्यों निर्मल है स्फटिक, सहज स्वभाव हि जान।
निरुपराग निरुपाधि प्रभु, आत्मा त्यों पहिचान।। 5।।
सहज तृप्त भगवान निज दृष्टि माँहि जब आय।
सर्व विकल्प विलय हुए, सहज तृप्ति प्रकटाय।। 6।।
अहो! प्रभो आदर्श हो, निज प्रभुता दर्शाय।
आत्म लीन होकर प्रभो, मुक्तिमार्ग प्रकटाय।। 7।।
सहज पूर्ण प्रभु हूँ स्वयं, अहो स्वयं भगवान।
परमानंद प्रकट हुआ, प्रगट्यो सम्यग्ज्ञान।। 8।।
हूँ परिपूर्ण सदा प्रभु, भ्रम से पामर मान।
भ्रमत अनादि से फिर्‌यो, भयो न निज का भान।। 9।।
धन्य घड़ी मैंने लखा, निज ज्ञायक भगवान।
ज्ञानमूर्ति शुद्धात्मा, गुण अनंत की खान।। 10।।

तृप्तिमय सागर अहो, उछले अपरम्पार।
हुआ निमग्न सु सहज ही, उपजे हर्ष अपार।। 11।।
चाह दाह प्रभु मिट गई, चिन्ता सर्व पलाय।
चैतन्य चिन्तामणि लखो, आनंद उर न समाय।। 12।।
एक अखण्डित ज्ञानमय, चिन्मूरति भगवान।
जाके आश्रय पूर्वक, सहज होय निर्वाण।। 13।।
वंद्य अरु वंद्यक भाव भी, अहो नहीं उपजाय।
एक रूप चैतन्य प्रभु, द्वैत नजर नहीं आय।। 14।।
दृष्टि में बस एक है, ज्ञायक प्रभु अभिराम।
अहो! लीनता हो स्वयं, सहज पूर्ण निष्काम।। 15।।

(24) निर्भय स्वभाव चिंतन

मैं सदा से रहा आत्मा, अब भी हूँ।
आत्मा ही रहूँगा, न बदलूँगा मैं।। टेक।।
कोई निन्दा करे या करे स्तुति,
बाह्य वैभव बढ़े या सभी नष्ट हों।
इनसे वृद्धि न हानि तनिक भी मेरी,
इसलिए लोकभय व्यर्थ ही है मेरा।।
लोकभय से अहित निज का करता रहा,
अब इसे तज चिदानन्द ध्याऊँगा मैं।। 1।।
बुद्धि एकत्व की व्यक्त पर्याय में,
इसलिए भव जगत में मैं धारण किये।
सुर न नारक न तिर्यञ्च मानुष हुआ,
ये तो नष्ट हुई, मैं तो शाश्वत रहा।।

सोचना व्यर्थ पर लोक की भी मुझे,
मूर्छा ये भी तजूँ सुख भोगूँगा मैं।। 2।।
आत्मा आधि-व्याधि-उपाधि रहित,
रागमय वेदना भी अभी परिहरूँ।
जीव का मरण होता कभी भी नहीं,
द्रव्यदृष्टि से भय मरण का भी तजूँ।।
रोग होता रहे, मौत होती रहे,
अब कभी भी न इन रूप होऊँगा मैं।।3।।
निज प्रदेशत्व रूपी किलेबन्दी है,
उसको रक्षित रखे निज का अस्तित्व है।
गुण अगुरुलघु सदा आत्मा में रहे,
आत्म वैभव में ना हानि-वृद्धि कहीं।।
इसलिए चिन्ता रक्षा तथा गुप्ति की,
तज परमपद को अब शीघ्र पाऊँगा मैं।।4।।
परिणमन का समय क्रम भी निश्चित रहे,
काल लब्धि से होते हैं परिणाम सब।
आ गये ज्ञान में सर्व ज्ञाता के सब,
मेरी चिन्ता से होता कभी कुछ नहीं।।
अकस्मात् की चिन्ता से निर्मुक्त हो,
ले समाधि निजात्मा को पाऊँगा मैं।। 5।।

(25) आत्मोपवन

(तर्ज : ज्ञान ही सुख है, राग ही दुख है...)

अब निहारें अरे आत्म अन्तर को हम,
ज्ञान-दर्शन-चरित्र-सुख रतन जगमगें।। टेक।।
लेश भी सुख पाया नहीं आज तक,
निज को जाने बिना हम भटकते रहे।
चाह विषयों की अन्तर में जलती रही,
हम विकल्पों की आँधी में उड़ते रहे।। 1।।
जब सहन ना हुई वेदना तड़फते,
पी लिया विष-विषय का अमृत जानकर।
मूर्च्छा गहरी हुई होश कुछ न रहा,
नीम मीठा लगा हम चबाते रहे।। 2।।
संत बूटी का शुभ योग हमको मिला,
मोह का यह नशा कुछ उतरता चला।
नीम कड़ुवा लगे अब रूचि ना रही,
ये विषय तो हलाहल से अब लग रहे।। 3।।
मात जिनवाणी की गोद सुखकर मिली,
मूसलाधार वर्षा जहाँ ज्ञान की।
चाह की दाह खुद ही शमित हो गई,
समता रस का प्रवाह निरन्तर बहे।। 4।।
आत्म-भूमि में रत्नत्रय अंकुर उगे,
भाव संयम की हरियाली छाई अहो।

वृक्ष चारित्र का पल्लवित हो चला,
फल लगे भाव क्षायिक के रस से भरे।। 5।।
स्वाद जिनका लिये तृप्त भविजन बने,
जिसकी छाया में नहिं ताप है राग का।
शांति सुखमय मिले आत्म-विश्राम है,
फिर न आवागमन का ये फेरा रहे।। 6।।
आत्मन्! चेत अब भी समय है अरे,
क्यों अटकता-भटकता है पर्याय में।
शरण ज्ञायक प्रभु की तू ले ले सही,
सुख अक्षय अतीन्द्रिय का निर्झर बहे।। 7।।

(26) निरावरण स्वभाव

(तर्ज : हे देवी तेरी वंदना...)

आवरण होते हुए भी, निरावरण स्वभाव है।
बंधन अरे पर्याय में, निर्बंध शाश्वत भाव है।। 1।।
ओट कण की दृष्टि पर, पर्वत नजर आता नहीं।
तिनके से ढक सकता नहीं, शाश्वत प्रगट गिरिराज है।।2।।
त्यों आवरण है मोह का, रे मात्र तेरी दृष्टि पर।
शाश्वत प्रकाशमयी सु चिन्मय, परम निर्मल भाव है।।3।।
अब मोड़कर निज दृष्टि, अन्तर माँहि ध्रुव प्रभुता लखो।
मैं सदा सुख सम्पन्न प्रभु, अनुभव करो, श्रद्धा करो।।4।।
मैं मूढ़ पामर दीन दुखिया, भ्रान्ति अब तज दीजिए।
त्रैलोक्य की प्रभुता अरे, निज में ही तुम लख लीजिए।।5।।

(27) वस्तु व्यवस्था

जगत व्यवस्था यदि देखोगे, सुखी नहीं हो पाओगे।
मिथ्या कर्त्ता बुद्धि से तो, भारी दु:ख उठाओगे।। 1।।
सुख का साधन संयोगों को नहीं जुटाने से मिलता।
वस्तु व्यवस्था को यथार्थ समझे से सच्चा सुख होता।। 2।।
जितने द्रव्य जगत में दिखते हैं अत्यंत व्यवस्थित वे।
सदा अवस्थित निज स्वभाव में गुण पर्ययमय स्थित वे।। 3।।
जो जिस समय अवस्था दिखती, यथा योग्य है वह भाई।
पूर्व अवस्था व्यय होने पर, वह तो निज क्रम से आई।। 4।।
तुम अज्ञान मोह से उसको, इष्ट-अनिष्ट मान लेते।
अरे! भ्रान्तिवश आकुल-व्याकुल होते नाना दु:ख सहते।। 5।।
जब निज आत्म गुणों की भी तो स्वयं अवस्थाएँ होतीं।
करते तुम नाना विकल्प, किंचित् नहीं तदनुसार होती।। 6।।
फिर भी दृष्टि नहीं बदलते, पर अनुकूल चाहते हो।
इच्छाओं का जाल बिछाकर, स्वयं दु:खी तुम होते हो।। 7।।
निज स्वभाव की तिरस्कारिणी पर्यय दृष्टि ही दु:खदायी।
सहज अकर्त्ता ज्ञायक लखती, द्रव्यदृष्टि ही सुखदायी।। 8।।
आत्मन् द्रव्यदृष्टि होते ही सुख समुद्र लहरायेगा।
अक्षय निज साम्राज्य मिलेगा, शिव स्वरूप प्रगटायेगा।। 9।।

(28) आत्मा की सैंतालीस शक्तियाँ

देखीं-देखीं अनन्तों शक्तियाँ उछलती देखी।
स्व-सन्मुख हो अनुभव में प्रत्यक्ष मैंने देखी।।
मेरे आनन्द उर न समाय, सु मैंने देखी।। टेक।।

शाश्वत जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान।
सुख, वीर्य शक्तियाँ सु देखी, अहो मैंने देखी।। 1।।
प्रभुत्व, विभुत्व सर्वदर्शित्व।
सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व देखी, अहो मैंने देखी।। 2।।
शक्ति प्रकाश, असंकुचित विकासत्व।
अकार्य कारणत्व देखी, अहो मैंने देखी।। 3।।
परिणम्य-परिणामकत्व सु शक्ति।
त्यागोपादन शून्यत्व देखी, अहो मैंने देखी।। 4।।
अगुरुलघुत्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व।
परिणाम, अमूर्तत्व, देखी अहो मैंने देखी।। 5।।
अकर्तृत्व, अभोक्तृत्त्व शक्ति।
नियत प्रदेशत्व देखी, अहो मैंने देखी।। 6।।
स्वधर्म व्यापकत्व, साधारण-असाधारण,
साधारणासाधारण देखी, अहो मैंने देखी।। 7।।
अनन्त धर्मत्व, विरूद्धधर्मत्व,
तत्त्व, अतत्त्व मैंने देखी, अहो मैंने देखी।। 8।।
एकत्व, अनेकत्व, भाव, अभाव,
भावाभाव, अभावभाव देखी, अहो मैंने देखी।। 9।।
भावभाव, अभावाभाव,
भाव, क्रिया, कर्म देखी, अहो मैंने देखी।। 10।।
कर्त्तृत्व, करण, सम्प्रदान, अपादान,
अधिकरण, सम्बन्ध देखी, अहो मैंने देखी।। 11।।
इत्यादि अनंत शक्तियाँ मैंने देखी,
ओर न छोर दिखाय, अहो मैंने देखी।। 12।।

निज आतम में ही रम जाऊँ,
सिद्धि सहज प्रगटाय, अहो मैंने देखी।। 13।।
अब न विस्मरण होय कदापि,
अविचल ध्यान रहाय 'आत्मन्' देखी, अहो मैंने देखी।। 14।।
ज्ञानमात्र फिर भी शुद्धातम,
महिमा अपरम्पार, अहो मैंने देखी।। 15।।
जगी प्रतीति सम्यक्,
आतम ही शाश्वत परमातम मैंने देखी, अहो मैंने देखी।। 16।।

(29) सुख का मूल-भेद-विज्ञान

स्व-पर विवेक बिना इस जग में, सुख किंचित् नहीं पाओगे।
निज शुद्धातम के भान बिना, भव-भव भरमें भरमाओगे।। 1।।
प्रगट जुदे धन धाम कुटुम्बादिक से नहीं तेरा नाता।
सुर धनु जल तरंग सम अस्थिर, व्यर्थ मोहवश अकुलाता।। 2।।
अशुचि कृतघ्नी मूर्तिक जड़मय, अरे सम्भाले क्या प्राणी।
माटी की ये बनी है काया, माटी में ही मिल जानी।। 3।।
न्यारी लीला जड़ कर्मों की, नाना रंग दिखाते हैं।
निज-निज स्थिति पूरी करके, तुरत अलग हो जाते हैं।। 4।।
मोहादिक जो भाव कर्म तेरी ही मलिन अवस्थायें।
परलक्षी दुःखमय अध्रुव, पुद्गलमय ज्ञानी दरशायें।। 5।।
दूर रहें ये, शुद्ध परिणति का भी लक्ष्य करना।
'आत्मन्' भेद विकल्पों से भी न्यारी ध्रुव दृष्टि धरना।। 6।।
परम ज्ञेय-श्रद्धेय-ध्येय है, शाश्वत कारण परमात्मा।
आश्रय करने योग्य यही, चिन्मय ज्ञायक स्व शुद्धात्मा।। 7।।

(30) भेद-विज्ञान विचार

ज्ञानी आत्मा ही निज रूप धारे, भेद-विज्ञान ऐसे विचारे।
मैं तो चेतन प्रभु, ये अचेतन सभी, घर और द्वारे।।
व्यर्थ कहता हूँ महल हमारे।। टेक।।

मात पित सुत कुटुम्बी संगाती,मात्र मतलब के सब ही हैं साथी।
स्वार्थवश निज कहें, अंत मुझको तजें, होवें न्यारे।।
झूठ कहना कुटुम्बी हमारे।। 1।।

वैश्या सम होती लक्ष्मी है चंचल, इसके मिलने से होते न मंगल।
मुझको अंधा करे और दुःख में धरे, सुख उजाड़े।।
वस्त्र-भूषण भी ना हैं हमारे।। 2।।

रूपी काया जो बाहर दिखाती, आत्म रूप से मेल न खाती।
क्षेत्र निज में रहे, कार्य निज ही करे, गुण हैं न्यारे।।
मिथ्या नो-कर्म माने हमारे।। 3।।

औदारिक में है कान्ति जो आयी, तैजस कर्म की है निमित्त पाई।
आत्म अंश नहीं, मेरा वंश नहीं, पुद्गल सारे।।
कैसे तैजस को अपना उचारे।। 4।।

अष्ट कर्म रूप कार्मण शरीरा, भिन्न उसको भी तू सोचधीरा।
पुद्गल निर्मित है वह, घटता-बढ़ता है वह,अन्तर धारे।।
व्यर्थ निज मानूँ ये कर्म सारे।। 5।।

राग-द्वेष है मेरी अवस्था, फिर भी भिन्न है उसकी व्यवस्था।
पर के लक्ष्य से हो, कारण दुःख के अहो सुख तू धारे।।
भावकर्म को निज क्यों उचारे।। 6।।

केवलज्ञानादि शुद्धभाव जो हैं, आत्म लक्ष्य से निश्चय वे होवें।
शुद्ध तो हैं सही, लक्ष्य योग्य नहीं, व्ययता धारे।।
शुद्ध परिणति को भी क्यों निहारे।।7।।

दर्श-ज्ञानादि गुण आत्मा धारे, भेद दृष्टि के कथन हैं सारे।
गौण सबको करे, द्रव्यदृष्टि धरे ध्रुव चितारे।।
सच्चा सुख तब ही प्रकटेगा प्यारे।।8।।

(31) देह-भिन्नता का विचार

तोड़ तू इस शरीर से राग, तभी होगा सच्चा वैराग।
जिनवृष देव-गुरु पाये हैं, धन्य तुम्हारा भाग ।। 1।।
काल अनादि से अरे आत्मन्, तूने गोता खाया।
कोई पुण्य का योग मिला, तब मानव गति में आया।।2।।
जाने कितने मिले गात, पर साथ सभी ने छोड़ा।
मरण समय प्राचीन छोड़, नव देह से नाता जोड़ा।।3।।
हाय-हाय वे भी अस्थिर थे, केवल दुःख के कारण।
हुआ विमोहित तन में ही,ना भव का हुआ निवारण।।4।।
अतः मूर्खता ही है भाई, तन से राग लगाना।
राग तो अज्ञानी ही करते, जिन नहीं रूप पहिचाना।।5।।
अरे आत्मन्! तनिक विचारो, मल से देह बनी है।
हाड़ मांस अरु रुधिर पीव से, इसमें घृणा घनी है।।6।।
अगणित हैं मलद्वार यहाँ, इससे यह महा अशुचि है।
इसका ऊपर से नीचे तक, कोई अंग नहिं शुचि है।।7।।

ऐसे महा अशुचि होने पर भी, क्यों राग रचाते?
इससे क्यों एकत्व मानते, क्यों भव दुःख बढ़ाते।। 8।।
ये अत्यंत भिन्न आत्मा से, सद्गुरु यही बताई।
आत्मा की परिणति से, तन की चेष्टा भिन्न ही गाई।।9।।
इन दोनों को एक मानना, भूल हमारी भारी।
यह तो है मिथ्यात्व महा, इससे भव की तैयारी।। 10।।
ये पुद्गल अरु तू चेतन है, दोनों न्यारे-न्यारे।
जड़ की क्रिया भिन्न चेतन से, सद्गुरु वचन उचारे।। 11।।
भाववती शक्ति दोनों में, निज-निज कार्य करे है।
एक-दूसरे का अवलम्बन, कोई नहीं धरे है।। 12।।
द्रव्य पृथक है, क्षेत्र अलग है, काल भाव भी न्यारे।
फिर दोनों क्यों होय एक, तू ये तो तनिक विचारे।। 13।।
अतः भव्य अब ये श्रद्धाधर, तन से आत्म अलग है।
तेरी क्रिया तुझमें होती, तन की क्रिया विलग है।। 14।।
तन की ओर से दृष्टि हटाकर, निज में दृष्टि लगा ले।
तोड़ सकल जग द्वन्द्व-फन्द, बस भेदज्ञान उपजा ले।। 15।।
निज आतम अनुभूति करे ले, ये ही धर्म महा है।
ये है प्रथम मोक्ष की सीढ़ी, भूषण इसे कहा है।। 16।।
अतः 'आत्मन्' शीघ्र विचारो, समय बहुत ही कम है।
तन से भिन्न अनुभवो निज को, जिसके बिना न शम है।। 17।।

(32) आत्मानुभव की भावना

आत्मा का हित निहारे, निज पद को जा सम्भारें।
संसार में फँसे हैं क्यों, अब शान्ति से विचारें।। 1।।
है शुद्ध रूप मेरा, अविनाशी सुख का घर है।
उसको तो भूलने में, रखी नहीं कसर है।। 2।।
मिथ्यात्व का गहलपन, हम सब पै आज छाया।
पूजे कुदेव-कुगुरु-कुधर्म, हमको भाया।। 3।।
आदर सदा किया है, इन ही के सेवकों का।
और नशा हम पै छाया, धन ज्ञान औ पदों का।। 4।।
सम्यक्त्व नाहिं भाया, पर रूप में लुभाया।
इस ही से भव में भ्रमता, सुख को नहीं है पाया।। 5।।
तिर्यञ्च-सुर-नरक से, नरगति में दुख उठाया।
आया था निगोद से मैं, उसमें ही पुनः जाया।। 6।।
इस तरह काल खोया, आतम का हित न कीना।
पर भाव ही को निजकर, निज सम्पदा गही ना।। 7।।
अब आया हूँ ठिकाने, सुन सद्गुरु की वाणी।
श्रद्धान में हैं आये, जिनदेव-गुरु औ वाणी।। 8।।
सत् ज्ञान अभ्यास द्वारा, आत्मानुभव करेंगे।
आत्मा में लीन रहकर, संसार परिहरेंगे।। 9।।

(33) स्व-सम्बोधन

सब दुख द्वन्द्व निवारण हेतु, लेहु शरण निज आतम की।
निज सुख स्वानुभव से निपजे, अब तजहु आस अशरण जग की।। 1।।

क्यों व्यर्थ विकल्प करे प्रतिक्षण, ये आकुलता उपजाते हैं।
आकुलता ही दुःख बीज अरे! श्री गुरु तुझको समझाते हैं।। 2।।
ज्यों बंदर का कुछ काम नहीं, पर मूरख टाँग फँसाता है।
लकड़ी में फँसी हुई छैनी, खुद ही निकाल दब जाता है।। 3।।
विल्लाता है, चिल्लाता है, संक्लेश धरे मर जाता है।
अर आर्तध्यान से नरकों में जा, भारी दुःख उठाता है।। 4।।
त्यों सुन पर से चेतन तेरा, अत्यन्ताभाव सदा ही है।
फिर भी उपयोग फँसा पर में, तुमने तो दुःख सहा ही है।। 5।।
है ज्ञान मात्र तेरा स्वभाव, पर में कर्त्तापन चले नहीं।
जो होना है सो ही होवे, तेरे विकल्प से टले नहीं।। 6।।
होने वाला तो कार्य अरे, तेरे विकल्प बिन होता है।
ना होने वाला कार्य मूढ़, चिन्ता से भी नहीं होता है।। 7।।
फिर भी अज्ञानी-संसारी, संक्लेश करे अरु रोता है।
भूतकाल के सोच भविष्य की, चिन्ता में दिन खोता है।। 8।।
ईंधन घृत डालता ही जावे, अरु अग्नि शमन किया चाहे।
त्यों विषयों के भोगों से मूरख, इच्छा की तृप्ति चाहे।। 9।।
पर जग में फूटा घड़ा कभी, जल से भरता देखा किसने।
जिसने भरने की बुद्धि तजी, सुखमय जीवन पाया उसने।। 10।।
हे भव्य! आस त्यागो जग की, पर से सुख कभी न आता है।
ज्यों-ज्यों दौड़े त्यों आगे हो, मृग तृषित न जल को पाता है।। 11।।
यदि प्रथम भूमिका में 'आत्मन्' तेरे विकल्प नहीं छूट सके।
तो करो तत्त्व चिन्तन जिससे, नहीं आर्त-रौद्र में तू अटके।। 12।।

यदि महल बनाना हो चेतन, तो मुक्ति महल निर्माण करो।
यदि निधियों से दृष्टि न हटे, तो रत्नत्रय निधि दृष्टि करो।। 13।।
यदि करना-धरना है चेतन, निज कार्य करो, निज ध्यान धरो।
यदि नाश करन की इच्छा हो तो, मोह भाव का नाश करो।। 14।।
यदि शादी का भी भाव उठे, चारित्र रूप रथ पर सु चढ़ो।
पर भाव रूप पर नारि तजो, शिव सुन्दरि निज अन्दर सु वरो।। 15।।
यदि सुनने की उर चाह उठे, तो जिनवाणी उपदेश सुनो।
यदि गुनना है तो हे आत्मन्! निज में निज से निज को ही गुनो।। 16।।
पर संग न छूटे तब तक भी, ज्ञानी जन का सत्संग करो।
यदि मरण नहीं छूटे तेरा तो सल्लेखनमय मरण करो।। 17।।
जब रोगादिक का वेदन हो, तो समतामृत का पान करो।
यदि कर्मोदय से बचना है तो आत्मज्ञान रवि उदय करो।। 18।।
जब तुझे देखना हो चेतन तो वीतराग मुद्रा देखो।
मुद्रा में भी प्रभु को देखो, प्रभु जैसा फिर निज को देखो।। 19।।

(34) आत्महितकारी-भावना

उठो भव्य जीवों भजो आत्मा को,
यही है शरण हाँ यही है शरण।
स्वाधीन वस्तु व्यवस्था को समझो,
बाहर है केवल जन्म अरु मरण।। टेक।।
संयोग जिसका वियोग भी निश्चित,
व्यर्थ हैं तेरे विकल्प सभी।
पर से निरपेक्ष भिन्न सदा ही रहें,
प्राप्त एकत्व को हों नहीं दो कभी।।

नहीं कुछ भी बदलाव संभव कदा,
क्रमबद्ध होवे सभी परिणमन।। 1।।
तेरा मोह ही तुझको दुखी कर रहा है,
अरे घटना या ज्ञान दें दुख नहीं।
ज्ञान हो दूसरों को भी घटना का पर,
एक सा उनको होता है क्यों दुख नहीं।।
अनुपात में राग के दुख हो,
ये परम सत्य समझो अहो जिन वचन।। 2।।
द्रव्यदृष्टि से देखो सभी ध्रुव सदा,
और पर्याय से थिर रहे कौन है?
छोड़ पर्यायदृष्टि करो साधना,
आत्महितकारी तो भवि सदा मौन है।
शोक छोड़ो करो चिन्तवन ज्ञानमय,
जीव को धर्म ही जग में तारण-तरण।। 3।।
वस्तुएँ जितनी हैं उतने हैं वस्तुत्व गुण,
व्यर्थ चिंता तजो कैसे होवेगा क्या?
भाग्य से हो व्यवस्था सभी की यहाँ,
बाँट सकता कभी कर्म जन्मों के क्या।।
धैर्य धारण करो योग्य उद्यम करो,
आत्म कल्याण का तुम करो शुभ यतन।। 4।।
पंच-परमेष्ठी तो हैं सदा ही शरण,
उनकी श्रद्धा करो, सहज भक्ति करो।

तत्त्व निर्णय करो, तत्त्व चिंतन करो,
अपना सुख अपने में सहज अनुभव करो।।
भेद-विज्ञान बिन नहीं समाधान हो,
व्यर्थ होता रहे क्लेशमय ही मरण।। 5।।
धैर्य धारण करो ज्ञान अभ्यास से,
कटते कर्मों के बन्धन जो भव-भव हुए।
मोह टूटे सहज शांति अंतर में हो,
बढ़ती आराधना प्रभु का आश्रय किए।।
स्वाँग को स्वाँग समझो स्वरूप लखो,
ज्ञान आनंदमय है अनादि निधन।। 6।।
पहले समय से अधिक भाग्य से,
मिलता कुछ भी नहीं रे किसी को कभी।
छोड़ो आकुलता से व्यर्थ ही पाप हो,
पाप से शांत परिणमन होना कभी।।
तुम परीक्षा की घड़ियाँ समझकर इन्हें,
धारो समता जो भव्यों को मात्र शरण।। 7।।

(35) ज्ञानमय चर्चा

(तर्ज : ज्ञान ही सुख है, राग ही दुख है...)

पुण्य पर भी भरोसा हमें है नहीं,
व्यर्थ संक्लेशता प्रति समय धारते।
इष्ट के तो बिछुड़ने की चिन्ता करें,
चिन्ता करते हुए धर्म को त्यागते।। 1।।

जग के दुख की तो परवाह नहीं हम कहें,
बाह्य वैभव भी प्रभु से अरे माँगते।
छाया माँगे बिना पेड़ से यहाँ मिले,
फिर भी चाहें न किंचित् भी शरमावते।।2।।
धर्म त्यागे से तो दुःख बढ़ता रहे,
ज्ञानी दुःख में भी धर्म अतः धारते।
धैर्य पूर्वक सदा तत्त्व चिंतन करें,
बाह्य कार्यों की चिन्ता नहीं लावते।।3।।
भिन्न अनुभव करें आत्मा का सदा,
निज के वैभव में दृष्टि को धरते रहें।
होवे चंचलता मन में कदाचित् कभी,
तत्त्व चिंतन में उपयोग धरते रहें।। 4।।
कभी गाथा पढ़ें तीर्थंकर आदि की,
कभी वस्तु स्वभाव सुमरते रहें।
कभी कर्म विपाक का निर्णय करें,
कभी चरणानुयोग को पढ़ते रहें।। 5।।
कभी चर्चा करें, कभी भक्ति करें,
कभी चिन्तन-मनन और ध्यान धरें।
कभी मुद्रा लखें प्रभु की नासाग्रमय,
यों ही भावों की संभाल करते रहें।।6।।
होता पर लक्ष्य से दुख श्रद्धा परम,
पर से भिन्न 'मैं ज्ञायक हूँ' रटते रहें।

ये ही साधन प्रभु ने कहा सुख का,
व्यर्थ कर्त्तृत्व तज सुख शाश्वत लहें।।7।।

(36) पुण्य और धर्म

अब तक पुण्य और पाप किये हम, धर्म स्वरूप विचारा ना।
आस्रव बंध निरंतर करता, संवर-निर्जरा जाना ना।। 1।।
पुण्य भाव ही धर्म मानता, मिथ्या भूल रही मेरी।
पर भावों से प्रीति लगाकर, हुई परिणति जड़ केरी।। 2।।
हेय पाप है हेय पुण्य दोनों ही बंध के कारण हैं।
अशुचि अचेतन अध्रुव दुखमय, दोनों भव के ही कारण हैं।।3।।
यद्यपि पापों से बचने को, पुण्य भाव हो जाता है।
किन्तु उसे भी हेय मानता, वही तत्त्व का ज्ञाता है।। 4।।
पुण्य क्षणिक जड़मय विभाव है, कर्म रूप जानो भाई।
निज स्वभाव के घातक अशरण, आस्रव ही मानो भाई।। 5।।
धर्म पुण्य से न्यारा है, यह जीव स्वभाव कहाता है।
वीतरागतामय संवर-निर्जरा-मोक्ष का दाता है।। 6।।
पुण्य से धर्म नहीं होता, बस स्वर्गादिक मिल जाता है।
एक मात्र शुद्धात्म शरण से ही सच्चा सुख पाता है।। 7।।
तजो-तजो मिथ्याबुद्धि, पर से उपयोग हटाओ तुम।
'आत्मन्' निज ही में तन्मय हो, अविनाशी शिव सुख पाओ तुम।।8।।

(37) निष्काम ज्ञानी

(तर्ज : रे जीव तू अपना स्वरूप...)

भव-भोगों की तो कामना अति दूर ही रहो।
नहीं मुक्ति की भी कामना सम्यक् ज्ञानी को हो।।

निष्काम मुक्त रूप निज को अनुभवते सदा।
निर्मान ज्ञान रूप निज में वर्तते सदा।। 1।।
निर्द्वन्द्व पर से भिन्न, निज में ही मगन रहें।
धनि ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय तीनों ही अभिन्न हैं।।
परिग्रह प्रपंच कुछ नहीं, निर्ग्रन्थ हैं सहज।
आनन्दमय जीवन अहो, निःशल्य हैं सहज।। 2।।
अध्रुव की चिन्ता क्या? सहज भजते सदा ध्रुव पद।
चैतन्य पद से भिन्न सब ही भासते अपद।।
जानें निःकेवल आत्मा, निर्मूढ़ हैं अहो।
न्यारा झलके सब लोक, निज में तृप्त हैं अहो।। 3।।
वर्ते समाधि रूप, ना विकल्प हो कोई।
निष्पाप सहज रूप, प्रगट दोष ना कोई।।
पावन सहज सदा रहें, वे धन्य आत्मा।
होवें सहज ज्ञातार, परम मुक्त आत्मा।। 4।।
उनको नमन करते, सहज निज भाव में नमूँ।
निश्चिंत उपादेय, शुद्धातम हूँ अनुभवूँ।।
चैतन्य रस में लीन, नित संतुष्ट मैं रहूँ।
निर्भेद जाननहार, जाननहार ही रहूँ।। 5।।

(38) तत्त्व-भावना

(तर्ज : शांत चित्त हो निर्विकल्प हो..)

सहज भाव से भाओ-भाओ, आत्म भावना सुखकारी।
सहज भाव से ध्याओ-ध्याओ, ध्रुव शुद्धातम अविकारी।। 1।।

ज्ञान सहज है और तत्त्व की प्राप्ति भी है सहज अरे।
शान्त चित्त से सोचो भाई, उलझन इसमें कौन करे।। 2।।
ज्ञान स्वयं ही ज्ञेय स्वयं ही, प्रतिक्षण स्वयं ज्ञान में आय।
निर्णय कर अन्तर्मुख होवे, स्वानुभूति सहजहि प्रगटाय।। 3।।
होय प्रतीति सहज मुक्त प्रभु, दीन भावना नश जावे।
मिथ्या कर्ता बुद्धि छूटे प्रत्यक्ष ज्ञाता हो जावे।। 4।।
सतत ज्ञान की धारा बढ़ती, बन्ध शिथिल हो शुद्धि बढ़े।
आत्म लीनता वृद्धिंगत हो, गुणस्थान फिर सहज चढ़े।। 5।।
होय सहज निर्ग्रन्थ अवस्था, वर्ते प्रचुर स्वसंवेदन।
निर्ममत्व हो, निर्विकल्प हो, होवे श्रेणी आरोहण।। 6।।
कर्म नशावें, प्रभुता प्रगटे, अविनाशी शिवपद प्रगटाय।
ऐसा ही पद सब जन पावें, मंगलमय शुद्धातम भाय।। 7।।

(39) ध्रुव ज्ञायक रूप

(तर्ज : मैं जीवन दुख सब भूल गया)

अन्तर में ही परमानन्दमय, शाश्वत परमातम रहता है।
संसार प्रपंचों से न्यारा, ध्रुव ज्ञायक रूप ही रहता है।। टेक।।
जिसका दर्शन सम्यक् दर्शन, अनुभव सु सम्यक् ज्ञान अहा।
थिरता सम्यक् चारित्र जिसमें, विश्रान्ति उत्तम तप सु कहा।।
जिसका आराधक सहजपने साधक हो शिव पद पाता है।। 1।।
अक्षय वैभव सम्पन्न प्रभु ध्रुव मंगल रूप विराज रहा।
देखा न भ्रान्तिवश पर ज्ञायक तो सहजज्ञान का ज्ञेय रहा।।
निर्णय कर अन्तर्मुख होने पर प्रत्यक्ष अनुभव होता है।। 2।।

करना तो जिसमें नहीं अरे, होना भी कुछ न दिखाता है।
परिपूर्ण सदैव सु एक रूप, ज्ञाता कृतकृत्य कहाता है।।
आश्रय से त्याज्य स्वयं छूटे सब ग्राह्य ग्रहण हो जाता है।। 3।।
चिच्चमत्कारमय तत्त्व अहो, समझो-समझो नहीं देर करो।
क्यों जान बूझ भव कूप पड़ो, नहीं और अधिक अंधेर करो।।
हो सहज प्राप्य की ही प्राप्ति, बाहर से कुछ नहिं आता है।। 4।।
ज्ञाता हो ज्ञाता रहो सदा हो शुद्ध परिणमन प्रभुतामय।
निर्ग्रन्थ रहो, निर्द्वन्द्व रहो, निर्वांछिक हो सुख लो अक्षय।।
अनुभवन सुधा रस पान करो, जो अजर-अमर पद दाता है।। 5।।

(40) अपनी प्रभुता

पर की महिमा गावे निशदिन, नहीं अपना कुछ ध्यान है।
अन्तर्मुख हो देख आत्मन्, आप स्वयं भगवान है।। 1।।
स्वयं पूर्ण है अपने में ही, सहज चतुष्टयवान है।
बिनमूरति-चिन्मूरति अनुपम, गुण अनन्त की खान है।। 2।।
अपनी प्रभुता आप भूल कर, हुआ व्यर्थ हैरान है।
तू स्वाधीन अखण्ड प्रतापी, अक्षय प्रभुतावान है।। 3।।
होकर दीन भटकता बाहर, अन्तर भरा निधान है।
सिद्ध प्रभु ज्यों सिद्धालय में, त्यों आतम अम्लान है।। 4।।
जानो निमित्त अकिंचित्कर ही, होय ज्ञान से ज्ञान है।
मत उपयोग भ्रमाओ पर में, करो भेद-विज्ञान है।। 5।।
ज्ञानानन्द स्वभावी आतम, धरो सहज श्रद्धान है।
निज के आश्रय से ही प्रगटे, अक्षय सुख अम्लान है।। 6।।

चेतो! चेतो!! उत्तम अवसर, मोह महा दुखखान है।
मोहादिक के त्याग बिना, होवे न कदा कल्याण है।। 7।।
कर्त्ता पर का कोई न होवे, नहीं आदान-प्रदान है।
परिणति में भी कभी कदाचित् पर से लाभ न हानि है।। 8।।

(41) अपनी पहिचान

भो आत्मन्! तजो विकल्प सभी, कुछ कार्य न होय विकल्पों से।
स्वयमेव परिणमित होय वस्तु, बस हो संकल्प-विकल्पों से।। टेक।।
परिपूर्ण स्वाभाविक आनन्द से, परिपूर्ण स्वाभाविक प्रभुता से।
ध्रुव रूप अहो निरपेक्ष लखो, परिपूर्ण सदा निज में निज से।।
अन्तर में अन्तर्मुख होकर, सब जीव निहारो सिद्धों से।। 1।।
हैं स्वयं सिद्ध हैं सहज सिद्ध, समझो-समझो स्वीकार करो।
निर्मुक्त निरामय परमातम, अवलोको निज रस पान करो।।
प्रभु होकर भी पहिचान बिना, तुम भटक रहे हो कल्पों से।। 2।।
जिन-अर्चा, तत्त्वों की चर्चा, आवश्यक है, पर्याप्त नहीं।
निर्णय कर भेद-विज्ञान करो, बाहर में तेरा साध्य नहीं।।
है स्वानुभूति के गम्य तत्त्व, कैसे पायेगा जल्पों से।। 3।।
चिन्ता झूठी, आशा झूठी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।
निर्मोही हो निर्द्वन्द्व रहो, निर्ग्रन्थ रहो है सार यही।।
आकुलता का कुछ काम नहीं, संतुष्ट रहो निज में निज से।। 4।।

(42) ज्ञान-ध्यान

अक्षय सुख रूप सुज्ञान, सदा भवि करियो जी।
शिव कारण आतम ध्यान सहज ही धरियो जी।। 1।।

सम्यक् बिन भव भरमाया, मिथ्या आचरण कराया।
पर बीज बिना नहीं वृक्ष, कभी भी फलियो जी।। 2।।
छोड़ो अनादि की भूल, श्रद्धान धर्म का मूल।
सम्यक् पुरुषार्थ जगाय, प्रगट ही करियो जी।। 3।।
शंकादिक दोष सु टारो, संवेगादिक गुण धारो।
कर भेदज्ञान सुखकार, स्वानुभव करियो जी।। 4।।
नित तत्त्व भावना भाओ, अंतर वैराग्य बढ़ाओ।
लखि विषय महा विष रूप, सहज ही तजियो जी।। 5।।
उत्तम संयम स्वीकारो, सर्वज्ञ कथित तप धारो।
उपसर्ग परीषह होंय, कभी मत डरियो जी।। 6।।
नहीं पर का दोष विचारो, अपने परिणाम सम्हारो।
मंगलमय-मंगलकार सु समता धरियो जी।। 7।।
निर्ग्रन्थ मार्ग सुखकारा, पाओ भव सिन्धु किनारा।
करि सकल कर्म मल नाशि, मुक्ति पद वरियो जी।। 8।।

(43) निरपेक्ष स्वरूप

निरपेक्ष रहो, निरपेक्ष रहो निज से ही निज में तृप्त रहो।। टेक।।
निरपेक्ष शक्तियाँ वस्तु की, निरपेक्ष परिणमन वस्तु का।
नहीं रखो अपेक्षा कुछ पर से, आराधन में ही मग्न रहो।। 1।।
पर से कुछ भी नहिं होता है, पर के बिन कुछ नहीं रुकता है।
स्वाधीन परिणमन वस्तु का, श्रद्धान अटल ऐसा ही हो।। 2।।
जैसा मुख वैसा ही दर्पण में, सहजपने प्रतिभासित हो।
हमको भी वैसा ही मिलता, जैसा व्यवहार स्वयं का हो।। 3।।

रे कूप में जैसी ध्वनि करता, प्रतिध्वनि भी वैसी आती है।
भूमि में जैसा बोता है, वैसा ही सहज अंकुरित हो।। 4।।
अच्छा सोचो, अच्छा बोलो, तब तुम भी अच्छा पाओगे।
रे बुरे विचारों का दुष्फल, तो जग में सदा बुरा ही हो।। 5।।
आसक्त रहे जो जड़ तन में, वह पुनः पुनः तन धरता है।
जो तन-मन से न्यारा ध्यावे वह मुक्त सर्व कर्मों से हो ।। 6।।
पर आश्रय से जो दुखी रहे, वह भव-भव में दुःख पाता है।
जो भेदज्ञान को भाता है, उसको स्वाश्रय से ही सुख हो।। 7।।
'आत्मन्' उत्तम अवसर आया, निज को समझो दुर्मोह तजो।
अपना सर्वस्व है अपने में, अपने में ही संतुष्ट रहो।। 8।।

(44) चैतन्य स्वरूप

मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, नित-चैतन्य स्वरूप हूँ।
ध्रुव चैतन्य स्वरूप हूँ, अविकारी चिद्रूप हूँ।। टेक।।
मैं आनन्द स्वरूप हूँ, नित्यानन्द स्वरूप हूँ।
ध्रुव आनन्द स्वरूप हूँ, परमानन्द स्वरूप हूँ।। 1।।
मैं शाश्वत प्रभु रूप हूँ, अक्षय प्रभुता रूप हूँ।
अद्भुत प्रभुता रूप हूँ, चेतन प्रभुता रूप हूँ।। 2।।
मैं ध्रुव मंगल रूप हूँ, शाश्वत मंगल रूप हूँ।
मंगलमय मंगल करण, सहजहिं मंगल रूप हूँ।। 3।।
लोकोत्तम चिद्रूप हूँ, सर्वोत्तम चिद्रूप हूँ।
परमोत्तम चिद्रूप हूँ, सहज अनुत्तम रूप हूँ।। 4।।
अनन्य शरण चिद्रूप हूँ, सहज शरण चिद्रूप हूँ।
सदा शरण चिद्रूप हूँ, मैं अशरण चिद्रूप हूँ।। 5।।

मैं निरपेक्ष स्वरूप हूँ, मैं निर्ग्रन्थ स्वरूप हूँ।
मैं निर्द्वन्द्व स्वरूप हूँ, मैं निर्बन्ध स्वरूप हूँ।। 6।।
मैं निष्काम स्वरूप हूँ, ध्रुव निष्कर्म स्वरूप हूँ।
मैं श्रद्धेय स्वरूप हूँ, निश्चय ध्येय स्वरूप हूँ।। 7।।
सहज ज्ञानमय सहजहि ज्ञाता, सहजहिं ज्ञेय स्वरूप हूँ।
धर्म अनन्तमयी धर्मी हूँ, मैं ही धर्म स्वरूप हूँ।। 8।।
सहज पूर्ण शिवरूप हूँ, सदा पूर्ण शिवरूप हूँ।
अन्तर्मुख हो प्रत्यक्ष अनुभवूँ, शाश्वत ज्ञायक रूप हूँ।।9।।

(45) आत्म-पुरुषार्थ

पुरुषार्थ किए ना हमने कभी, अवसर यूँ ही विलगाए हैं।
मुक्ति की अभिलाषा तो की, उपलब्ध नहीं कर पाये हैं।। टेक।।
सच्चे देव-शास्त्र-गुरु दर्शन, मंजिल के प्रारम्भ हैं ये।
निज स्वभाव के सन्मुख दृष्टि, मुक्ति का आरम्भ है ये।।
गति रहते गतिहीन हुए हम, आगे ना बढ़ पाये हैं।। 1।।
परम्परा का धर्म दे रहा, लौकिक सुख का दान हमें।
समरूप उन्ही का इस अन्तर में, पूज रहे हम लोग जिन्हें।।
साध्य सराहा कभी न अपना, साधन गले लगाये हैं।। 2।।
चारों मंगल माने महान पर, ये शाश्वत सुख जनक नहीं।
आराधक के मार्ग प्रकाशक, निश्चय ये ही आराध्य नहीं।।
चैतन्य ध्रुव में सच्चा सुख, श्रद्धान नहीं कर पाये हैं।। 3।।
पर्यायों में उलझ गये हम, आत्मरसिक न बन पाये।
विषयों में ही मंडराये हम, आत्म मधुप न बन पाये।।
स्व-शक्ति हम भूल गये, कमलों से निकस न पाये हैं।। 4।।

पूजा पुण्य दिलाती है, अनुकरण मुक्ति दिलवाता है।
पैठ गया जो खुद के अन्दर, सहज मुक्ति पा जाता है।।
खुद ही खुद को विसराये, खुद में खुद को भरमाये हैं।। 5।।
मुक्ति की युक्ति अन्दर है, मोक्षमार्ग अन्यन्त्र नहीं।
निज की शक्ति निज में सोई, हो पाई अभिव्यक्त नहीं।।
उलझ गई पर में दृष्टि, निज प्रभुता ना लख पाये हैं।। 6।।
संयोग और पर्याय बदलती, ये अनादि का परिवर्तन।
बहुत छके इसमें रच-पच, अब दूर रहे यह दुर्वेदन।।
ध्यान करें, सम्मान करें, जिस आतम को विसराये हैं।। 7।।

(46) मुमुक्षु का श्रद्धान

निर्मल चरित्रवंत मुमुक्षु, सेवन करो सु यह सिद्धांत।
एक शुद्ध चिन्मय सदैव हूँ, परम ज्योतिमय आतमराम।। 1।।
विविध भाव जो भिन्न लक्षणों वाले प्रगटित होय रहे।
वे नहीं मैं हूँ भासे मुझको, वे समग्र पर द्रव्य अरे।। 2।।
पर द्रव्यों को ग्रहण करें, वे अपराधी ही बँधते हैं।
निज में ही संतुष्ट गुप्त बुध, निरपराध नहीं बँधते हैं।। 3।।
लौकिक में भी चोरादिक ही, सदा सशंकित फिरते हैं।
पकड़ न लेवे कोई कहीं, भयभीत आकुलित रहते हैं।। 4।।
किन्तु निरपराधी जन को, बंधन की शंका भी नहीं हो।
रहें सदा निंश्चत शांत वे, सहज निराकुल जीवन हो।। 5।।
शुद्धातम सेवी ज्ञानी त्यों, निरपराध निर्भय रहते।
नहीं स्वप्न में भी बंधन की, शंका हो निर्बन्ध रहते।। 6।।

भेदज्ञान का चमत्कार यह, अन्तर में देखो भाई।
घोर परीषह उपसर्गों में भी हो समता सुखदाई।। 7।।
निज आतम ही इक अवलम्बन, भव सागर तिर जाने को।
ज्ञानानंदमय निज स्वभाव ही, साधन शिव पद पाने को।। 8।।
एक आत्मा को जाने से, ज्ञेय समस्त झलकते हैं।
एक आत्मा को ध्याने से, सर्व विभाव विनशते हैं।। 9।।
नहीं किसी की कभी अपेक्षा, स्वयं-स्वयं में पूर्ण है।
पर भावों से शून्य स्वयं सिद्ध निज वैभव आपूर्ण है।। 10।।
है अनुभूत मार्ग इससे ही हुये अनन्तों सिद्ध हैं।
नमों-नमों अब भगवन्तों को, कीना मार्ग प्रसिद्ध है।। 11।।
वंदनीय निर्ग्रन्थ साधु जो, विचरें मुक्तिमार्ग में।
परम जितेन्द्रिय रहें उद्यमी, सम्यक् ज्ञान विराग में।। 12।।
वे भी अहो प्रशंसनीय हैं, जिन्हें हुआ श्रद्धान है।
धन्य जिनेश्वर के लघुनंदन, लहे अवश्य निर्वाण है।। 13।।
उनका हो सत्संग सहज ही ध्याऊँ अपना रूप असंग।
क्षण भर भी अब नहीं सुहावे मोही लोकजनों का संग।। 14।।
होऊँ परम निर्ग्रन्थ रहूँ, निर्द्वन्द्व सहज निज पद ध्याऊँ।
स्वयं-स्वयं में तृप्त रहूँ, बस स्वयं-स्वयं में रम जाऊँ।। 15।।
नित्योद्योत रूप परमातम, शाश्वत आनंद धाम है।
हुआ सहज निश्चिंत मुक्ति निज में ही मिले ललाम है।। 16।।

(47) ज्ञानमय स्वरूप

आत्मन्! सोच तज झूठा, शरण कोई नहीं मुझको।
जरूरत ही नहीं तुझको, स्वयं परिपूर्ण लख खुद को।। टेक।।
निजी अस्तित्व से जीता, नहीं कोई नाश कर सकता।
अहो! वस्तुत्व शक्ति से, परिणमन भी स्वयं होता।।
तुझे चिन्ता पड़ी है क्या? परणति ही करे खुद को।। 1।।
नहीं इहलोक-परलोक, नहीं है वेदना कोई।
अरक्षा और अगुप्ति, नहीं होवे कभी चोरी।।
नहीं कुछ भी कदा होवे, सप्त भय है नहीं मुझको।। 2।।
अहो! अक्षय तेरा वैभव, सहज सुख सिंधु लहरावे।
नहीं कर्मादि, रागादिक, ज्ञान में ज्ञान ही आवे।।
ज्ञानमय रूप ही तेरा, ज्ञान में भासता तुझको।। 3।।
स्वयं ही तू प्रभु तेरा, तेरी महिमा है सर्वोत्तम।
नहीं बनना, नहीं होना, सहज ही तू है लोकोत्तम।।
नहीं शंका, नहीं गुंजाइश, सहज सुखमय लखो खुद को।।4।।
तेरी मुक्ति नहीं पर में, चले युक्ति नहीं पर में।
तेरा सर्वस्व स्व में ही, नहीं कुछ भी अरे पर में।।
दैन्य वृत्ति तेरी झूठी, सदा ही प्रभु लखो खुद को।। 5।।
तेरा गुरु है नहीं बाहर, अहो! तू ही परम गुरु है।
अनादर क्यों करे निज का, निरवलम्बी परम प्रभु है।।
सहज निरपेक्ष ध्रुव ज्ञायक, मात्र ज्ञायक समझ खुद को ।।6।।

(48) निज पद की भावना

शुद्धातम हूँ आप निहारो, कर्मादिक को भिन्न विचारो।
पर का दोष लखो मत भाई, निज अज्ञान ही है दुखदाई।। 1।।
'जड़ तन मैं हूँ' जिसे दिखाता, पर द्रव्यों से जोड़े नाता।
सब ही अपना उसे दिखाता, इष्ट-अनिष्ट कल्पना लाता।। 2।।
होवे मिथ्या मोह कषायें, व्यर्थ जगत में वे भरमायें।
क्षण-क्षण कर्म बन्ध हो भारी, पावें दुर्गति अति दुखकारी।। 3।।
महाभाग्य जिनशासन पावें, जिन उपदेश हृदय में लावें।
तत्त्वज्ञान हो मंगलकारी, हो रत्नत्रय धर्म का धारी।। 4।।
भेदज्ञान को भावे पल-पल, होवे नहीं कभी वह आकुल।
निर्विकल्प हो निजपद ध्यावे, परमातम खुद ही बन जावे।। 5।।
सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान सु करना, साम्यभावमय चारित धरना।
मार्ग परम निर्ग्रन्थ रूप है, ध्रुव आतम तो चित्स्वरूप है।। 6।।

(49) अपने भाव सम्हारो

चेतन अपने भाव सम्हारो, देहादिक से भिन्न निहारो।। टेक।।
रागादिक हैं दुख के कारण, इन्हें सदा ही हेय विचारो।
ध्रुव परमातम के आश्रय से, कर पुरुषार्थ सहज निरवारो।। 1।।
वीतरागता शिव सुखदाता अपने उर में सदा विचारो।
है सर्वस्व सदा अपने में, बाहर कुछ भी नहीं तुम्हारो।। 2।।
पूर्ण वीतरागी साँचे प्रभु गुरु, निर्ग्रन्थ हृदय में धारो।
स्याद्वादमय श्री जिनवाणी, पढ़ो-पढ़ावो सदा विचारो।। 3।।

तत्त्वों का सम्यक् निश्चय कर, स्व-पर भेद-विज्ञान सुधारो।
पर से विरत स्वयं में रत हो, ज्ञानानंद सहज विस्तारो।। 4।।
पर द्रव्यों का दोष न देखो, अन्तर्मुख उपयोग सम्हारो।
इष्ट-अनिष्ट कल्पना त्यागो, समता भाव सदा ही धारो।। 5।।

(50) ज्ञाता स्वरूप

कर्त्ता तो नित मरता है, बस ज्ञाता शिव सुख पाता है।
कर्त्ता तो बोझा ढोता है, ज्ञाता निर्भार रहाता है॥ टेक॥
कर्त्ता तो नित कर्म बाँधता, ज्ञाता कर्म खिपाता है।
निज में तृप्त विरक्त बाह्य में सहज अकर्त्ता ज्ञाता है॥ 1॥
भेदज्ञान से शून्य है कर्त्ता, भव-भव में दुःख पाता है।
आकुलतामय जीवन उसका, क्षण भी लहे न साता है॥ 2॥
हो विकल्प अनुसार कदाचित, अभिमानी हो जाता है।
जब इच्छा अनुसार न होवे, क्रोध माँहि झुलसाता है॥ 3॥
करो तत्त्वाभ्यास, नशे कर्त्तृत्व महा दुःखदाता है।
स्वयं सदा क्रमबद्ध परिणमन, सहज समझ में आता है॥ 4॥
अन्तर्मुख पुरुषार्थ ढले, आतम अनुभव हो जाता है।
मोह महातम नशे तभी, ज्ञाता साक्षात् कहाता है॥ 5॥
ज्ञाता अन्तर्दृष्टि के बल से सहज विरक्ति भाता है।
ज्ञेयों से निरपेक्ष ज्ञान-आनन्दमय जीवन होता है॥ 6॥
वीतरागता बढ़ती जाती, निर्ग्रन्थ पद प्रगटाता है।
विषय-वासना शून्य हृदय से, निश्चल ध्यान लगाता है॥ 7॥
नशे कर्म बंधन दुःखदायी, परमातम पद पाता है।
अहो! परम निर्दोष मुक्त, ज्ञाता ही सदा रहाता है॥ 8॥

(51) परमार्थ रूप

भव्य रूप ज्ञायक है तेरा, राग–द्वेष तो है संसार।
मोह का सब जंजाल है झूठा, झूठा सब ये लोकाचार।। टेक।।
लीन होय व्यवहार में चिर से, तुमने जग में भ्रमण किया।
पर को ही सर्वस्व समझ, परमार्थ रूप को भुला दिया।।
इसीलिये तुम दुःख उठाते, कर न सके अपना उद्धार।। 1।।
एक समय की ये पर्यायें, प्रतिक्षण व्यय इनका होता।
फिर क्यों इनमें दुखी–सुखी होकर, संसार बढ़ा लेता।।
ले ध्रुव का आश्रय सुखमय, बस हो जा तू भी भव से पार।।2।।
यह जग स्वयं व्यवस्थित ही है, तुझको कुछ भी नहीं करना।
जो कुछ होता है होने दे, ज्ञाता–दृष्टा ही रहना।।
ज्ञायक सागर के अन्तस में, अक्षय सुख का है भंडार।। 3।।
ज्ञायक की पहिचान बिना, व्रत तप नहीं मुक्ति प्रदाता है।
पुण्य बँधे स्वर्गादिक पावें, भव का अन्त न आता है।।
ज्ञायक महिमा समझ लें भैया, तोड़ भ्रमों की ये दीवार।। 4।।
ज्ञायक में नहिं भाव विकारी, ज्ञायक तो बस ज्ञायक है।
निरुपाधि चैतन्य चक्रवर्ती तो मुक्ति प्रदायक है।।
मंगल शरणभूत ज्ञायक ही, तीन भुवन में सुख दातार।। 5।।
ज्ञायक का आश्रय होने पर सुःख सभी मिल जाता है।
परमेष्ठी पद भी क्रमशः फिर स्वयं प्रगट हो जाता है।।
भव दुःख की भीषण आंधी में, निज ज्ञायक ही है आधार।।6।।

(52) रत्नत्रय भावना

रत्नत्रय ही शिव स्वरूप, शिव का साधन।
शाश्वत सुख स्वरूप, शुद्धातम आराधन।। 1।।
सुख दुख का पर से कुछ भी संबंध नहीं।
बन्ध काल में भी शुद्धनय से बंध नहीं।। 2।।
स्वयं-स्वयं को जाने बिन हैरान हुआ।
जिसने समझा ध्याया वह भगवान हुआ।। 3।।
अज्ञानी तो पर को देता दोष सही।
ज्ञानी अपना दोष लखे, परमार्थ यही।। 4।।
दोष छोड़ने का ही वह उद्यम करता।
परमातम निर्दोष हुये, उनको भजता।। 5।।
गुरुओं की संगति में ज्ञानाभ्यास करे।
भेदज्ञान कर ध्रुव स्वभाव निर्दोष भजे।। 6।।
इस विधि से निर्दोष परणिति प्रगटाती।
दोषों की संतति ही उसके मिट जाती।। 7।।
ज्ञानानन्द स्वभाव सहज ही विलसाता।
परम साधना से परमातम बन जाता।। 8।।
सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चरण ही रत्नत्रय।
इसी भाव से कर्मों पर हो जाय विजय।। 9।।

(53) रत्नत्रय महिमा

(तर्ज : केशरिया चावल रंगवा दो...)

सहज रत्नत्रय सुख की खान।
सम्यक् चारित्र धर्म सु निश्चय दर्शन मूल महान।। टेक।।
पर भावों से भिन्न आत्म-रुचि ही सम्यक्त्व भला है।
स्वयं ज्ञानमय अनुभूति ही, सम्यग्ज्ञान कला है।।
निज स्वरूप में परम लीनता, सम्यक् चारित्र जान।। 1।।
जगे आत्म-रुचि अंतर में, तब बाहर कुछ न सुहाय।
निज स्वरूप में सहज निशंकित, निर्वांछक हो जाय।।
विविध वस्तु धर्मों के प्रति, ज्ञानी को होय न ग्लानि।। 2।।
निज निर्मूढ़ स्वभाव पिछाना, पर्यय मूढ़ न होय।
निज स्वरूप में युक्त हुआ, निज धर्म बढ़ावे सोय।।
निज से निज में ही थिर होवे, हो वात्सल्य महान।। 3।।
परम भाव को ही नित भावे, होवे ज्ञान प्रकाश।
यही प्रभावना मंगलमय हो, अष्ट अंग यों खास।।
शंकादिक दोषों का जिनके, रहा न नाम निशान।। 4।।
चेतन जाति, सिद्धों का कुल, बल वैभव सु अनंता।
सब विद्याओं का ईश्वर, चिद्रूप प्रभु गुणवन्ता।।
शान्त रूप महिमामय जाना, होय न किंचित् मान।। 5।।
ज्ञान लोक में सहज विचरते, लोक मूढ़ नहीं होय।
निर्ग्रन्थ गुरु प्रति परम प्रतीति, गुरु मूढ़ता खोय।।
परम देव निर्दोष पिछाना, देव मूढ़ता हान।। 6।।

निज धर्मी में धर्म लखे तें नहीं अनायतन होवे।
नहीं प्रशंसे नाहिं पोषे, रागादिक को जो है।।
इन्द्रादिक भी उनके यश का, करें अहो निशि गान।।7।।
वे ही ज्ञानी अल्प काल में, पावें पद निर्वाण।
मोक्ष महल की पहली सीढ़ी, सम्यग्दर्शन जान।।
अहो सम्यक्त्व परम सुखदान,अहो सम्यक्त्व परम सुखदान।।8।।

(54) मोक्षमार्ग

(तर्ज : हम लाए हैं विदेह से...)

संसार दुख का घर है, इसमें नहीं फँसाना।
रत्नत्रय पथ पर चलकर, शिवपुर हमें है जाना।। 1।।
इसका उपाय करना, ये फर्ज है हमारा।
दुष्कर्म त्याग करना, कर्तव्य है हमारा।। 2।।
हम आगमों से जानें, निज रूप को पिछानें।
फिर अन्यथा है दुर्लभ, श्री जैन धर्म पाना।। 3।।
हिंसादि पाप करना, अत्यन्त दुख का हेतु।
इनको भी शीघ्र छोड़ो, यदि सुख तुम्हें है पाना।। 4।।
दुर्लभ मनुष्य गति है, चिन्तामणि रतन सी।
दुर्लभ धर्म को पाकर, पथ भ्रष्ट को बचाना।। 5।।
दुखियों पर दया करना, उत्तम पर श्रद्धा रखना।
सम्यक्त्व धार लेना, फिर ज्ञान को बढ़ाना।। 6।।
चारित्र सार जग में, इसके बिना नहीं कुछ।
इसको भी शीघ्र पालो, कल का नहीं ठिकाना।। 7।।

(55) सुख-साधन

(तर्ज : आत्मन् अपनी वैभव गाथा...)

अब तक नहीं जाना हमने, सम्यक्त्व धर्म का मूल है।
इसको नहीं अपनाया अब तक, यही हमारी भूल है।। 1।।
इसके अभाव में डोले जग में, जप-तप बहुत किया है।
उसको धर्म मान करके, मिथ्यात्व को पुष्ट किया है।। 2।।
पुण्य किया है पाप छोड़कर, पुण्य छोड़कर पापा।
धर्म को अब तक नहीं जाना, और नहीं जाना है आपा।। 3।।
आपे से बाहर रह करके, अपनी सुधि विसराई।
निज की श्रद्धा-ज्ञान नहीं, परिणति अशुद्ध ही आई।। 4।।
मीठी औषधि भी चाहत है, रोग से मुक्ति चाहे।
कड़वी औषधि फैंक दई, और पेड़े को खा जाए।। 5।।
इस प्रकार यह रोग बढ़त है, अन्त नहीं आता है।
मोक्षमार्ग से च्युत रहता, संसार में दुःख पाता है।। 6।।
रोग से मुक्ति पाने को, कड़वी औषधि खानी होगी।
जिनदेव-गुरु-जिनवाणी की, सच्ची श्रद्धा लानी होगी।। 7।।
पुण्य-पाप को त्याग आत्म में, आगे ही बढ़ना होगा।
निर्विकल्पता वीतरागता से ही सच्चा सुख होगा।। 8।।
यदि सत्य हमारा निश्चय है तो मोक्ष हमारा कूल है।
इसको नहीं अपनाया अब तक, यही हमारी भूल है।। 9।।

(56) सुख का उपाय

सम्यग्दर्शन मूल धर्म का ये सर्वज्ञ उचारा है।
प्रकट करें निज-निज परिणति में, पहला साध्य हमारा है।। 1।।
सम्यग्दर्शन बिना जगत में, भारी दु:ख उठाये हैं।
झूठे सुख में मग्न हुये अरु भव अनन्त भरमाये हैं।। 2।।
दैव योग जिनवृष पाकर भी, अशुभ छोड़ शुभ में आया।
मंद राग को धर्म मानकर, वीतराग पद नहीं ध्याया।। 3।।
सच्चे देव-धर्म-गुरु का भी, रूप न सच्चा पहिचाना।
सप्त तत्त्व का मर्म न जाना, भेदविज्ञान नहीं ठाना।। 4।।
देह को अपना माना है, उसमें ही सुख खोजा निशदिन।
मिथ्या भोगों में सुख माना, उनमें लीन रहा निश दिन।। 5।।
बाह्य ज्ञान अरु क्रियाकाण्ड से भी सुख लेश नहीं पाया।
अंश मात्र मिथ्यात्व बुरा है, सत्य ज्ञानियों ने गाया।। 6।।
आज हुई मम अन्तर्दृष्टि, निज ज्ञायक का भान हुआ।
आत्मन् पर से भिन्न सदा मैं, अनुभवमय सद्ज्ञान हुआ।। 7।।
भाव शुभाशुभ दुखमय भासे, निजानंद निज में पाया।
अन्य नहीं कुछ मुझे सुहावे, एक मात्र ज्ञायक भाया।। 8।।
अब तो यही भावना मेरी, सदा आत्मा ही ध्याऊँ।
छोड़ सकल जग द्वन्द-फन्द बस, निज स्वरूप में रम जाऊँ।।9।।

(57) जयवंतो सम्यग्ज्ञान

नित्य जयवन्तो सम्यक् ज्ञान।
ज्ञान ज्ञानमय अनुभव आवे, परम स्वच्छ अम्लान।। टेक।।
ज्ञेय-ज्ञेय में रहें, ज्ञान में पावें नहीं प्रवेश,
अहो! ज्ञान में नहीं ज्ञेयकृत, होय मलिनता लेश।
नित्य निरंजन निरावरण, ज्यों मेघ पटल बिन भान।। 1।।
सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान, सम्यक् चारित्र उपजावे,
सहज ज्ञान में मग्न होय, सो सहज मुक्ति पद पावे।
जयवन्तो जगमाँहि नित्य ही, ज्ञान सु तीर्थ प्रधान।। 2।।
अक्षर शुद्धि अर्थ शुद्धिकर, उभय शुद्धि प्रगटावे,
योग्य काल आगम अभ्यासे, उपधाने सुख पावे।
नाम गुरु का नहीं छिपावे, करे विनय बहुमान।। 3।।
गुरु उपदेश युक्ति-आगम से, तत्त्व स्वरूप पिछाने,
भेदज्ञान कर स्वानुभूति का क्षण-क्षण उद्यम ठाने।
निर्विकल्प आत्म अनुभव ही, निश्चय सम्यग्ज्ञान।। 4।।
मुक्त हुये, हो रहे, होयेंगे, ज्ञान की महिमा जानो,
ज्ञान बिना सब क्रियाकाण्ड, बिन अंक शून्य सम मानो।
जन्म-जरामृत नाश करन को, कर ज्ञानामृत पान।। 5।।
ज्ञान स्वरूप नहीं पहिचाने, भव-भव भटके सोय,
ज्ञान भाव की महा शरण ले, अशरण कहीं न होय।
संशय विभ्रम मोह रहित प्रगटाओ आतमज्ञान।। 6।।

(58) सम्यक् चारित्र की प्रेरणा

अनादिकाल से भरमा, यहाँ पर व्यर्थ ही चेतन।
दृष्टि पुद्गल पर रखकर, मोह में तू डूबा चेतन।। 1।।
नहीं निज रूप पहिचाना, किया नहीं भेद-विज्ञाना।
विकारों को न छोड़ा है, मोक्ष का मर्म नहीं जाना।। 2।।
दुःख को सुख है समझा, मोह का नशा छाया है।
यही संसार का कारण, इसे नहीं त्याग पाया है।। 3।।
सुनो सत्गुरु की वाणी को, मार्ग सच्चा पिछानो तुम।
निरुपण मोक्ष के दो हैं, भेद उनका श्रद्धानो तुम।। 4।।
प्रवर्तन बाह्य करते भी, लक्ष्य निश्चय का रखना है।
नष्ट कर सब विकल्पों को, अथाह भव सिन्धु तिरना है।।5।।
सश्रद्धा अणुव्रत पालो, पुनः मुनिधर्म अपना लो।
विनाशो घाति कर्मों को, केवली पदवी को पा लो।। 6।।
यही अविनाशी सुख मारग, यही कर्तव्य है तेरा।
यही दुःखों का हर्ता है, यही प्रभु रूप है तेरा।। 7।।
आत्मा इसको तू पाले, इसी से हो जा तू वे तन।
अनादिकाल से भरमा, यहाँ पर व्यर्थ ही चेतन।। 8।।

(59) सम्यक् चारित्र महान

धन्य सम्यक् चारित्र महान।
जिस बिन नहीं जिनराज भी सीझें, नहीं पावे शिवथान।। टेक।।
आप-आप में लीन होय थिर, निश्चय चारित्र सोई,
शुद्धोपयोग रूप आनन्दमय, शिव का कारण होई।
व्रत समिति गुप्ति सहचारी सो व्यवहार सु जान।। 1।।

अंतरंग रागादि मिटे जहँ, सहज व्रतादिक होंय,
पर जीवों को पीड़ित करके, कार्य न साधे कोय।
परम अहिंसा सत्य अचौर्य, हो ब्रह्मचर्य अम्लान।। 2।।
नहीं वासना, नहीं वस्त्र, निर्ग्रन्थ दशा प्रगटाय,
लेश नहीं आडम्बर होवे, परम दिगम्बर काय।
इष्ट-अनिष्ट न भासे कोई, समता भाव प्रधान।। 3।।
चार हाथ भू देख गमन हो, हित-मित वचन सुहाय,
हो आहार दोष छियालीस बिन, जहाँ नहीं अन्तराय।
यत्नाचार पूर्वक ही हो, निक्षेपण आदान।। 4।।
मल मूत्रादिक भी त्यागें, ज्यों जीव घात नहीं होय,
यों निर्दोष समिति पालन, शिवपथ में सहजहिं होय।
निज स्वरूप में गोपन ही सम्यक् गुप्ति पहिचान।। 5।।
अहो! अचिन्त्य परम प्रभु आतम, पूर्णानन्दमय धाम,
व्यर्थ जगत में फिरे भटकता, निज में ही विश्राम।
सहज रूप शिव सुख का साधन, निर्मल आतम ध्यान।। 6।।
प्रबल भावना होवे प्रभुवर, धन्य दशा कब पाऊँ,
तोरि सकल जग द्वन्द्व-फन्द, नित ध्येय रूप ही ध्याऊँ।
रत्नत्रय की होय पूर्णता, प्रगटे पद निर्वाण।। 7।।

(60) जिनधर्म महत्व

मोक्ष ही तन है, मोक्ष ही धन है, मोक्ष ही ध्येय हमारा है।
कर्म में कर्त्तापना हेय, इससे करना निस्तारा है।। टेक।।
कर्मों के चक्कर में पड़ करके, हमने नित अति दुःख पाये।

रत्नत्रय पथ से च्युत हो, ठोकरमय भव पथ में धाये।।
यह जग कर्मों का नाटक है, इसमें नहिं कोई हमारा है।। 1।।
द्रव्य-भाव-नो कर्म अरे, ये तीन प्रकार बताए हैं।
द्रव्य कर्म के आठ भेद, श्री जैनागम में गाये हैं।।
राग-द्वेष-मोह ये भाव कर्म, इनसे करना छुटकारा है।। 2।।
नो कर्म द्रव्य के भाई हैं, इनसे भी नहिं कुछ हित होता।
इनके चक्कर में पड़ प्राणी, निज सुन्दर शिवपद को खोता।।
इसलिए मुमुक्षु इनसे हटकर, आतमधर्म संभारा है।। 3।।
अपने स्वरूप का अनुभव कर, सम्यग्दर्शन धारण करना।
फिर ज्ञान-चरित्र को अपना करके, मोक्षमार्ग में पग धरना।।
षोड़स अनुप्रेक्षा चिन्तन अरु, आत्मस्वरूप विचारा है।। 4।।
भो आत्मन्! चाहे सब त्यागो, पर जैनधर्म नहिं विसराना।
यह सच्चे सुख का दाता है, इस पर चलकर शिवपुर जाना।।
गर इसको भुला दिया किंचित्,तो मिलना नहिं किनारा है।। 5।।

(61) दुर्लभ जिनधर्म

दुर्लभ जिनधर्म सौभाग्य से मिल गया,
मुक्ति का प्राप्त होना सहज ही अहो।। टेक।।
देव-गुरु-धर्म की दृढ़ प्रतीति करो,
तत्त्व निर्णय में नित चित लगाओ अहो।
भेद-विज्ञान कर भाओ शुद्धात्म की,
भावना स्वानुभूति सहज ही अहो।। 1।।
दीखे साक्षात् प्रभुता सु आनन्दमय,
श्रद्धा अरु ज्ञान तत्क्षण हो सम्यक् अहो।

आत्म लीनता की ही रहती लगन,
होवे जग से उदासी सहज ही अहो।। 2।।
दोष रागादि क्षण-क्षण ही घटते चले,
कर्म बन्धन भी प्रतिक्षण विघटते चले।
सहज ही होवे आनन्दमय मुनिदशा,
चलते-फिरते से भगवंत के सम अहो।। 3।।
काल पंचम है घबराना किंचित् नहीं,
होवें लौकान्तिक सुर भी समाधि जु हो।
तहँ तें चय नर हो आराधना पूर्णकर,
शीघ्र मुक्ति हो जावे सहज ही अहो।। 4।।
छोड़ छल, मत फँसों जग प्रपंचों में अब,
चूक जाना न अवसर यह स्वर्णिम अहो।
सीख गुरु की सुनो, अपनी गरिमा लखो,
तृप्ति निज में ही पाओगे शाश्वत अहो।। 5।।

(62) धर्म भावना दशक

(तर्ज-वेश दिगम्बर...)

धर्म दिगम्बर जजो भव्य मंगलकारी।
धर्म दिगम्बर धरो भव्य आनंदकारी।। टेक।।
सम्यग्दर्शन ज्ञान-चरणमय, धर्म सर्व सुखदाता है।
परम अहिंसामयी धर्म ही, सर्व क्लेश विनशाता है।। 1।।
वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर, जिसके मूल प्रणेता हैं।
धन्य-धन्य निर्ग्रन्थ साधुवर, साधक अरु उपदेष्टा हैं।। 2।।

दशलक्षण हैं अहो धर्म के, इनसे धर्मी पहिचानो।
एकदेश अरु सर्वदेश पहिचान, भव्य उद्यम ठानो।। 3।।
धर्मी बिना न धर्म कहीं हो, समझो अपने धर्मी को।
प्राणों से भी प्यारा समझो, बाहर में साधर्मी को।। 4।।
साधर्मी की संगति में भी, सदा असंग प्रभु ध्याओ।
स्वानुभूति से धर्म प्रगट कर, तत्त्वभावना नित भाओ।। 5।।
हिंसादिक पापों को त्यागो, परलक्षी सब भाव तजो।
ले जिनदीक्षा स्वाश्रय से ही, निश्चय आतम धर्म सजो।। 6।।
नहीं आडम्बर अरे धर्म में, साम्यभाव ही धर्म अहा।
वेश दिगम्बर भाव निरम्बर, स्वानुभूतिमय धर्म अहा।। 7।।
श्रमणोपासक ही श्रावक है, सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित।
यत्नाचार युक्त क्रिया हो, जिसकी सहज विवेक सहित।। 8।।
सब प्रकार अवसर है आया, अब तुम चूक नहीं जाना।
पक्षपात तज निर्णय करना, मुक्तिमार्ग में लग जाना।। 9।।
बाहर तो क्लेशों का सागर, अन्तर ज्ञानानंद लसे।
ज्ञान ज्ञान में होय प्रतिष्ठित, सिद्धालय में सहज बसे।। 10।।।।

(63) जिनशासनाष्टक

रत्नत्रयमय जिनशासन ही, महावीर का शासन है।
क्या चिंता अध्रुव की तुझको, ध्रुव तेरा सिंहासन है।। टेक।।
द्रव्यदृष्टि से निज को देखे, स्वयं-स्वयं में तृप्ति हो।
भेद-विज्ञान सहज ही वर्ते, किंचित् नहीं आसक्ति हो।।
अद्भुत समता हो जीवन में, तत्त्वों का प्रतिभासन है।। 1।।

आर्विभूत सामान्य हुआ है, तिरोभूत हैं सर्व विशेष।
सम्यक् हो परिणमन सहज ही, राग-द्वेष हुए निःशेष।।
शासक कोई अन्य नहीं है, सहज रूप अनुशासन है।। 2।।
परम अहिंसा सहज प्रवर्ते, हिंसा का नहीं कोई काम।
निवृत्तिमय परिणति शोभे, पर वृत्ति का नहीं कुछ नाम।।
अहो अलौकिक प्रभुता विलसे, हो विभाव का नाशन है।। 3।।
सम्यक् दर्शन मूल अहो, चारित्र वृक्ष पल्लवित हुआ।
ज्ञान ज्ञान में भासे क्षण-क्षण, दशलक्षण से फलित हुआ।।
है निश्चिंत द्रौपदी सुखमय, नहीं कोई दुःशासन है।। 4।।
सत्य अहिंसा प्राण हमारे, तत्त्वज्ञान का ध्रुव आधार।
जिनभक्ति हो सदा हृदय में, मुक्तिमार्ग का हो विस्तार।।
सहज निशंक सहज निर्भय हैं, मिला हमें जिनशासन है।। 5।।
ध्रुव दृष्टि प्रगटी अंतर में, मोह महातम नाशा है।
ज्ञेय मूढ़ता मिटी सहज ही, ज्ञायक ही प्रतिभासा है।।
भक्ति भाव से होय वंदना, व्यक्त नमोऽस्तु शासन है।। 6।।
सपने में भी नहिं विराधना, और मलिनता हो पावे।
घोर परीषह उपसर्गों में, चित्त नहीं चिगने पावे।।
सावधान होवें अपने में, अप्रमत्त यह शासन है।। 7।।
इष्ट-अनिष्ट न कुछ भी भासे, किंचित् नहीं विषमता हो।
ज्ञायक में संतुष्टि होवे, ज्ञेयों में नहीं ममता हो।।
ज्ञानमयी वैराग्यमयी, आनंदमयी ये शासन है।। 8।।

(64) हित-चिन्तवन

(तर्ज : अहो चैतन्य आनंदमय...)

हमें एक कार्य करना है, कि सम्यक्दर्श प्रगटाना।
अन्य की चाह नहीं हमको, हमें सुख अपना है पाना है।। 1।।
अरे! हम खुद के ही राजा हैं, अतुल वैभव हमारा है।
मिथ्यात्व में वैभव, न जाना हम हमारा है।। 2।।
इसी से हम भिखारी हो, खाक दर-दर की छाने हैं।
खेद है माँगते पर से, नहीं आत्मा पिछाने हैं।। 3।।
बेड़ी को डालते पैरों और मुक्ति को भी चाहें।
पूर्व में चलते-चलते भी, पहुँचना पश्चिम में चाहें।। 4।।
कल्पना विष को खाकर के, अमर होने की करते हैं।
उपल पर बीज बोकर भी, फसल की आस धरते हैं।। 5।।
अरे! खुद ही विचारें हम, असम्भव कैसे सम्भव है।
जो वस्तु घर में रखी है, वह बाहर कैसे सम्भव है।। 6।।
ज्ञान स्वभावी हैं हम भी, मूर्ख फिर कैसे बनते हैं?
मान्यता उल्टी रख करके, भ्रमण हम भव में करते हैं।। 7।।
यहीविपरीत बुद्धि मात्र ही, सब दुःख का कारण है।
यही शुद्धि में बाधक है, यही सब सुख हारण है।। 8।।
फँसे चिरकाल से इसमें, छूट इससे न पाये हैं।
इसी से सुदृढ़ होते हैं, हमारे भव के पाये हैं।। 9।।
नींव मजबूत होवे तो, दुर्ग ये गिर नहीं सकता।
मूल को तो बिना काटे, ये भवतरू गिर नहीं सकता।। 10।।

मोह को नाश करने का, मात्र बस एक साधन है।
श्रवण श्री जैनवाणी का, और जिनधर्म धारण है।। 11।।
सत्य जिनदेव का मारग, मोक्ष के महल जाने का।
प्रथम सोपान सत् दर्शन, ज्ञान–चारित्र पाने का।। 12।।
बिना आत्मानुभव किये, ये चारित्र हमने पाला है।
अंधेरा ही रहा प्रतिक्षण, न पाया कुछ उजाला है।। 13।।
मनुज पर्याय पाई है, बड़े ही भाग्य हैं जागे।
कि सम्यग्दर्श हो जावे, कि जिससे भ्रमण भय भागे।। 14।।
अन्य कोई न अवसर है, जो ऐसा कार्य बन पाये।
ये चिन्तामणि सम दुर्लभ, नहीं खोकर के मिल पाये।। 15।।
अतः कर्तव्य है आत्मन्, कार्य अपना संभालें खुद।
प्रीति पर द्रव्यों से तजकर, स्व में दृष्टि लगालें खुद।। 16।।

(65) दुख का मूल कारण

(तर्ज : कर्त्ता जगत का मानता जो ...)

हमको जगत में घूमते, क्यों सुख न किंचित् मिल सका।। टेक।।
सुख स्वरूपी निजात्मा पर, दृष्टि नाहिं कर सका।
सुख ढूँढता था बाह्य में, बस इसलिए नहीं मिल सका।। 1।।
जो द्रव्य जितने जगत के हैं, निज गुणों से पूर्ण हैं।
लेना न देना उनको पर से, स्व कार्य में संलग्न हैं।। 2।।
नहिं पर है निज को इष्टानिष्ट, मात्र वे सब ज्ञेय है।
अच्छे–बुरे की बुद्धि उनमें, दुःख दायक हेय है।। 3।।
ये मान्यता छोड़ी न अब तक, ये हमारी भूल है।
ये ही बाधक सच्चे सुख में, ये ही दुःख का मूल है।। 4।।

इस मान्यता को बिना बदले, कार्य सब निष्फल रहे।
बहुत व्रत-तप-शील पाले, तो भी जग में रुल रहे।। 5।।
बस शीघ्र ही हे भव्य आत्मन्! उल्टी बुद्धि छोड़ दे।
तत्त्वार्थ का श्रद्धान कर, बस निज से नाता जोड़ ले।। 6।।
ये ही सुख का मूल है, चारित्र इसका वृक्ष है।
मोक्ष उसका फल है सुन्दर, सहज सुख से पूर्ण है।। 7।।
अतः सुख की प्राप्ति हेतु, सम्यक् दरश धारण करो।
इस कार्य को अति शीघ्र कर लो, देर मत इसमें करो।। 8।।

(66) अन्तर्दृष्टि की प्रेरणा

(तर्ज : रे जीव तू अपना स्वरूप...)

स्वतन्त्र है प्रत्येक वस्तु, सर्वदा ही जान तू।
बाह्य दृष्टि छोड़कर, आत्मा पिछान तू।। 1।।
ज्ञानमयी आत्मा, रागादि से भी है परे।
व्यर्थ पर पदार्थों में, राग-द्वेष तू क्यों करे।। 2।।
पर पदार्थ ज्ञेय हैं, आत्मीक ज्ञान के।
किन्तु रहा पर में जीव, इष्ट-अनिष्ट मान के।। 3।।
दुख हेतु ये ही मान्यता, नहीं अन्य दुःख का हेतु है।
जीव के सुख-दुःख में, अपराध निज का हेतु है।।4।।
छोड़ मिथ्यादृष्टि यदि, श्रद्धान सम्यक् जो धरे।
तो सहज ही मुक्त होवे, सुख स्वयं में अनुभवे।।5।।
रे आत्मन्! अब शीघ्र ही तू सीख गुरु की मान ले।
बाह्य सुखाभास तज, आत्म सुख जान ले।। 6।।

अन्यथा भव सिन्धु में ही, गोते खाता जायेगा।
चाहे कुछ भी कर उपाय, मोक्ष नहीं पायेगा।। 7।।
एतदर्थ शीघ्र चेत, समय अल्प जान तू।
स्वतन्त्र है प्रत्येक वस्तु, सर्वदा ही मान तू।। 8।।

(67) स्वानुभव की प्रेरणा

(तर्ज : शांत चित्त हो निर्विकल्प हो ...)

चिदानंद चिद्रूप आत्मन्! निज का अनुभव किया करो।
सब संकल्प-विकल्प तोड़कर सुखमय जीवन जिया करो।। टेक।।
आशंकाओं के घेरे में, शान्ति की होली जलती है।
होनी तो होकर ही रहती, टाले कभी ना टलती है।।
निज स्वभाव के बल से चेतन, अप्रभावित ही रहा करो।। 1।।
आत्मानुभव ही परम रसायन, परमौषधि अरु परमामृत।
आत्मानुभव से रहित आत्मा जीवित होने पर भी मृत।।
विषय चाह की दाह शमन को ज्ञानामृत तुम पिया करो।। 2।।
आत्मानुभव होते ही तत्क्षण, सम्यग्दर्श प्रगट होता।
महा पाप मिथ्यात्व नशाता, मुक्तिमार्ग शुरु होता।।
पर से हो निवृत स्वयं में, सहज तृप्त नित रहा करो।। 3।।
अन्तरात्मा कहलाते जब, निज सन्मुख दृष्टि होती।
तब ही बने कार्य परमातम, जब निज में थिरता होती।।
बस हो सर्व विकल्पों से, नित 'मैं ज्ञायक' यह लखा करो।।4।।

(68) स्व-संबोधन

जैसे खाली बर्तन में, अग्नि से नहीं उफान।
दूध बिना आ सकता भाई, त्यों न क्रिया बिन ज्ञान।। 1।।

तत्त्वज्ञान का दूध भरा हो, अरु विशुद्ध परिणाम।
संयम अंश प्रकट होता है, देव-गुरु बहुमान ।। 2।।
हीरा की कीमत तो केवल, जौहरी सकता जान।
मूरख उससे चिड़ी उड़ाता, उसको पत्थर मान।। 3।।
भक्ति अंश तभी जागे अरु उमगे तब बहुमान।
जब उसकी कीमत पहिचाने, होवे सम्यक् ज्ञान।। 4।।
तभी उठाकर उस हीरे को, रखे सुरक्षित जान।
निश-दिन उसकी रक्षा करता, देकर तन-धन जान।। 5।।
उसी तरह देव-शास्त्र-गुरु हैं, जग में रत्न महान।
सम्यक् आत्म स्वभाव दिखाते, जिसमें सुख अम्लान।। 6।।
जो कोई इनकी शरण में आया, दूर हुए सब कष्ट।
उसने ध्यान धारणा द्वारा, कर्म किए हैं नष्ट।। 7।।
निज वैभव को निज में पाया, बना स्वयं भगवान।
भव-भव का परिभ्रमण मिटाकर, पाई मुक्ति महान।। 8।।
अरे! आज इस भरतक्षेत्र में, प्रकट नहीं हैं आप्त।
पुण्य हीनता से गुरु दुर्लभ, ज्ञानी भी नहीं प्राप्त।। 9।।
शास्त्र मिले हैं पर ज्ञानी के बिना न मिलता मर्म।
निमित्त और व्यवहार कथन में, भूले निश्चय धर्म।। 10।।
ऐसे हीन काल में भी कुछ जागा पुण्य महान।
तत्त्व रुचि कुछ हुई हृदय में, प्रकटा किंचित् ज्ञान।। 11।।
जैसे जुगनू चमके नभ में, तैसे ज्ञानी जान।
क्षणिक समागम मिला आत्मन्! शीघ्र करो कल्याण।। 12।।

तन–धन–भोग सु क्षणभंगुर हैं, शिथिल करें पुरुषार्थ।
इनमें फँस कर ना परार्थ हो,और न सधता स्वार्थ।। 13।।
यह उत्तम अवसर हीरा पा,उचित नहीं परमाद।
दूर करो अज्ञान- कषायें, पीवो आतम स्वाद।। 14।।
जग के सभी प्रलोभन तज दो, नहीं करो परवाह।
दुःख चाहे कितने ही आवें, नहीं खींचना आह।। 15।।
तीर्थंकर सम ही ठुकराना, वैभव भोग हे भ्रात।
आँख बन्द तोते सम करके, पावो मुक्ति पाथ।। 16।।
अपना लोटा छान, पान करने से मिटती प्यास।
जग की चिन्ता त्याग–त्याग तू, जग का ना विश्वास।। 17।।
सबका होगा स्वयं परिणमन, तू नहिं ठेकेदार।
मौन भाव धर तीर्थ साधु सा, पावो पद अविकार।। 18।।

(69) स्वानुभूतिमय जिनशासन

(तर्ज : श्री जिनवर का मंगल शासन ...)

धन्य–धन्य सर्वज्ञ प्रभु का, दर्शनीय है जिनशासन।
तीनलोक में अनुपम जानो, स्वानुभूतिमय जिनशासन।। टेक।।
जिनशासन में बाह्य क्रियाओं का व्यवहार बताया है।
व्यसन–पाप–अन्याय–अनीति का दुर्भाव छुड़ाया है।।
किन्तु बाहरी सदाचरण को ही न समझना जिनशासन।। 1।।
देव–शास्त्र–गुरु–धर्म–तत्त्व का भी विवेक सिखलाया है।
नय–प्रमाण युक्ति से निज–पर भेद–विज्ञान कराया है।।
शुभ विकल्प हैं किन्तु अरे ये समझ न लेना जिनशासन।। 2।।

श्रावक अरु मुनिव्रत धर्मी के यथायोग्य देखे जाते।
परीषह–उपसर्ग विजय संयम तप सहजपने पाये जाते।।
किन्तु अरे यह बाह्य दशा है भिन्न अंतरंग जिनशासन।। 3।।
अबद्धस्पष्ट- अनन्य–नियत अविशेष–असंयुक्त स्व ज्ञायक।
ज्ञेयों से निरपेक्ष अहो अनुभव में आवे बस ज्ञायक।।
हूँ जाननहार अहो मंगलमय स्वानुभूति ही जिनशासन।। 4।।
स्वानुभूतिमय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चरित्र शिवपथ जानो।
अतः आत्मन् प्रथम ज्ञान में भासित ज्ञायक पहिचानो।।
ज्ञायक दृष्टि से ही निश्चय प्रगट होयगा जिनशासन।। 5।।
अरे मुमुक्षु! अब भी अटक न जाना बाह्य विकल्पों में।
भव कितने खोये तुमने मिथ्या संकल्प–विकल्पों में।।
चूक न जाना महाभाग्य से पाया तुमने जिनशासन।। 6।।

(70) समता सुख

दुख–सुख में समता पान करो, समता से दुख सभी मिटते।
रोने से दुख नहीं कम होता, क्यों व्यर्थ नया बन्धन करते।। टेक।।
करते समय विचारा ना, इसका फल मुझको क्या होगा।
झूठे सुख में ही मग्न रात–दिन, सोचा नहीं कि क्या होगा?
गर कर्म नहीं करते खोटे तो फिर कैसे ये दुख होते।। 1।।
आत्मन् ये तो स्थूल बात, बाहर से द्वेष मिटाने की।
अब सावधान हो सुनो सीख, कर्मों से दृष्टि हटाने की।।
कर्मोदय तो हैं भिन्न अरे, वे कैसे तुझको दुःख देते।। 2।।

हो घोर पाप का उदय तभी, ज्ञानीजन निज से सुख पावें।
पुण्योदय में भी अज्ञानी, निज मोहभाव से अकुलावें।।
अतएव भव्य अब निर्णय कर, नहीं कर्म भी तुझको दुख देते।। 3।।
खुद ही निज रूप को भूल अरे पर में अपनापन धरते हो।
झूठे संकल्प-विकल्पों से तुम, व्यर्थ आकुलित होते हो।।
भवि तत्त्वज्ञान अरु भेदज्ञान से, निज में सच्चा सुख पाते।। 4।।
आत्मतत्त्व शाश्वत सुखमय, सुख से रीता है कभी नहीं।
दुख तो केवल बाहर में है, तुझमें दुख का अस्तित्व नहीं।।
आत्मा दुख रूप नहीं होता, क्यों सिद्धांत भूल जाते।। 5।।
अब खेद तजो भूलो सब ही केवल अपने को पहिचानो।
पर द्रव्यों की क्या बात कहूँ पर्यय भी पार्श्ववर्ती जानो।।
अन्तर्दृष्टि करके देखो, निज में सुख सागर लहराते।। 6।।
तू तो शाश्वत सुखमय प्रभु है, केवल निज प्रभुता भूल गया।
निज प्रभुता को स्वीकार करो, फिर तो समझो सब दुःख गया।।
निज श्रद्धा अनुभूति थिरता से, आत्मन् मुक्ति पद पाते।। 7।।

(71) राग का कारण

(तर्ज : माँ सुनाओ वो गाथा सुहानी...)

राग हो क्यों इसे सुन तू प्यारे।
ये तो परलक्ष्य के हैं सहारे।। 1।।
दोष इसमें तो पर का नहीं है।
जीव अज्ञान कारण सही है।। 2।।
पर में आत्मा कभी भी न जाता।
आतमा में भी पर तो न आता।। 3।।

जीव होता स्वयं ही विकारी।
दोष पर को देना भूल भारी।। 4।।
फिर भी राग स्वभाव नहीं है।
ज्ञान जैसा स्वकार्य नहीं है।। 5।।
ज्ञान में ज्ञान का अनुभवन हो।
सहज रागादि मिटते सही हैं।। 6।।
तजके रागादि का लक्ष्य दुखमय।
समझो रागादि को तुम करममय।।7।।
आत्मा तो सदा ज्ञानमय है।
अनुभवन सब करो होके निर्भय।।8।।
मुक्ति-आगम से भी जाता जाना।
अन्य का अन्य से कुछ न होना।।9।।
कार्य जिसका है होता उसी से।
कर्त्ता करणादि कारक न पर में।।10।।
कार्य-कारण में भेद न किंचित्।
कहते व्यवहार से ही कथंचित्।। 11।।
और व्यवहार सत्य नहीं है।
मात्र व्यवहार से ही सही है।। 12।।
यह जगत द्रव्य षड्मय है सारा।
इसको कब किसने कैसे है धारा।।13।।
द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुवमयी है।
सत् स्वभाव त्रिकाल यही है।। 14।।

उपादान त्रिकाली है निज गुण।
पूर्ववर्ती अनुत्तर क्षणिक सुन।। 15।।
असली कारण तो कार्य का सुन रे।
योग्यता तत्समय की तू गुन रे।। 16।।
भेद निमित्त के होते नाना।
अंतरंग औ बाह्य प्रमाना।। 17।।
निज का वस्तुत्व निमित्त अंतरंग।
परिणति पर की तो मात्र बहिरंग।। 18।।
ऐसी जब है व्यवस्था रे भ्राता।
परिणमन बिन न कोई भी रहता।। 19।।
कार्य किसका करे कौन कैसे?
सुख हेतु अतः मान ऐसे।। 20।।
त्याग जाल विकल्पों का झूठा।
तेरा सुख जिससे प्रकटे अनूठा।।21।।
और सुख हेतु मारग नहीं है।
वाणी जिनदेव की तो यही है।। 22।।

(72) वस्तु-स्वरूप विचार

(तर्ज : भला किसी का कर न सको तो...)

बहुत घूमे जगत में हम, न सुख किंचित् भी पाया है।
जहाँ की सुख की आशा, वहाँ भी दुःख ही पाया है।। 1।।
कभी फिर भी विचारा ना, कहाँ गलती हमारी है।
हो गये मग्न दुःख में ही, दुःख की ही तैयारी है।। 2।।

भूल वह शास्त्र बतलाते कि, जिससे दुःख उठाया है।
हमारी मान्यता उल्टी ने, दर-दर पै फिराया है।। 3।।
हलाहल विष को पीते हैं, चाहते अमर होना है।
परन्तु विष को पीने से, मात्र वश प्राण खोना है।। 4।।
ठीक यह हाल हमारा, पुण्य में धर्म माना है।
जीव अस्तित्व को भूले, देह ही जीव माना है।। 5।।
देह की क्रिया स्व-मानी, किया नहिं भेद-विज्ञाना।
भूल तत्त्वार्थ को बैठे, धर्म का मर्म नहिं जाना।। 6।।
पुण्य अरु पाप दोनों ही, एक आश्रव के बेटे हैं।
दोनों ही बंध के कारण, मोक्ष से दूर करते हैं।। 7।।
आत्म अवलम्ब लेने से, कर्म रुकते व झड़ते हैं।
शुद्ध भावों से मुक्ति हो दुःख सब दूर होते हैं।। 8।।
परन्तु उल्टा माना है, पुण्य से मोक्ष होता है।
पुण्य ही धर्म है निश्चय, न आगे कुछ भी होता है।। 9।।
विचारो शान्त चित होकर, जो बेड़ी बन्ध का कारण।
उसे मजबूत करने से, हो कैसे भव का निवारण।। 10।।
अरे चेतन! कहाँ भटके, तत्त्व अभ्यास चित लाओ।
सत्य तत्त्वार्थ की श्रद्धा, विरागी भाव जगाओ।। 11।।
बीज जब आम का बोओ, तभी तो आम पाओगे।
वृक्ष बबूल लगाकर, व्यर्थ काँटे चुभाओगे।। 12।।
अगर सुख चाहते हो तुम, व्यर्थ मत काल गँवाओ।
छोड़कर मान्यता उल्टी, मुमुक्षु पंक्ति में आओ।। 13।।

पंक्ति में लगने से 'आत्मन्' अवश्य ही बारी आवेगी।
अन्यथा रत्नसम दुर्लभ, मनुष्य पर्याय जायेगी।। 14।।
पुनः मिलना भी दुर्लभ है, अतः चेतो अरे चेतो।
करो अब भेद-विज्ञान, स्व-पर को भिन्न तुम देखो।। 15।।
एक ही मार्ग है सुख का, मूल भी सम्यक् दर्शन है।
बिना इसके हुए 'आत्मन्' व्यर्थ ये सर्व जप-तप है।। 16।।
यही वाणी प्रभु की है, इसी पर श्रद्धा तुम लाओ।
तोड़कर सर्व विकल्प, सिद्ध पद अपना तुम पाओ।। 17।।

(73) चेतावनी

(तर्ज : आत्मन् अपनी वैभव गाथा...)

काल अनादि से अरे आत्मन्! मोह नींद में सोते हो।
इसीलिए इस भव-सागर में, खाते फिरते गोते हो।। 1।।
याद करो तुम वे दिन चेतन, जब निगोद में पड़े हुए।
एक श्वांस के अल्प समय में, बार अठारह जिए-मुए।। 2।।
एक बार के जन्म-मरण में, दुख कितना सोचो चेतन।
इसप्रकार वहाँ काल अनन्ता, दुःख में गँवाया है चेतन।। 3।।
दो हजार सागर साधिक तो, त्रस पर्यायों में आये।
एक वे ते चऊ इन्द्रिय होकर, बहुत दुःख तुमने पाये।। 4।।
पंचेन्द्रिय असंज्ञी हो, आतम हित नहीं कर पाये।
संज्ञी भी हो गये अगर, तो मोह विजय नहीं कर पाये।। 5।।
पाप भाव से मरण हुआ और नरक गति में जन्मे जा।
वहाँ पर दुःख बहुत से पाये, कहें कहाँ तक उनको हा।। 6।।

नरक से निकले भव में घूमे, देव गति में पहुँचे हम।
भोग-विलासों में रम करके, तृष्णा खूब बढ़ाई हम।। 7।।
माला मुरझी हुई देखकर, मृत्यु समय को आता देख।
करने लगे विलाप अनेकों भाँति, नाहिं आत्मा को पेख।। 8।।
बड़े पुण्य से ये मनुष्य भव, हमने आज उपाया है।
हाय यहाँ पर भी मिथ्यात्व में फँस, बहु समय गँवाया है।। 9।।
बड़ा भाग्य है आज हमारा, सच्चा धर्म मिला हमको।
यही धर्म है सर्वश्रेष्ठ अरु यही मेटता भव दुःख को।।10।।
जैन धर्म पा आत्म-धर्म ही, मुक्ति सुख का दाता है।
पर को त्याग लगो निज में, यह कार्य सुख का दाता है।। 11।।
सम्यग्दर्शन मूल धर्म का, इसको पहले अपनाओ।
देव-शास्त्र-गुरु सप्त तत्त्व की, सत्य प्रतीति हृदय लाओ।। 12।।
जो सर्वज्ञ देव ने गाया, सप्त तत्त्व का रूप अहा।
उनको वैसा ही तुम श्रद्धो, तब होगा कल्याण महा।। 13।।
वीतराग हित उपदेशी प्रभु, यही एक शिक्षा देते।
निज स्वभाव में ही रहकर, प्राणी सच्चा सुख अनुभवते।। 14।।
अब भी अरे! समय है चेतन, सोने का कुछ काम नहीं।
जिसमें तन्मय बने हुए हो, वह है तेरा धाम नहीं।।15।।
अतः भव्य निज भाव सम्हारो, सब कर्मों का नाश करो।
यह दुर्लभ अवसर मत चूको, सम्यग्दर्शन प्राप्त करो।। 16।।

(74) दृष्टि का खेल

(तर्ज : समता रस का पान करो...)

फल भोगत नहिं जड़ कर्मों का, इनसे लड़ने का काम नहीं।
फल कर्मों का है बाहर में, तुझमें झगड़े ये तमाम नहीं।। 1।।
पापोदय से जो कुष्ट हुआ, उससे मुनि खेद न माना था।
पुण्योदय से भरतेश्वर के, उर हर्ष न किंचित् आना था।। 2।।
नहिं भोगे राम अरु सीता ने, पाण्डवों के भी क्लेश का नाम नहीं।
जो किए सो किए उनको भूलो, फल में नहिं हर्ष-विषाद करो।।3।।
कर्त्ता-भोक्ता नहिं आत्मा है, निश्चय निर्णय चित्त माँहि धरो।
देनी न तुझे इक भी पाई, समता में दुःख छदाम नहीं।। 4।।
पापोदय में भी धर्म किया, जिनने दृष्टि इनसे मोड़ी।
पुण्योदय में भी अधर्म किया, जिनने दृष्टि इनमें जोड़ी।। 5।।
हे चेतन! खेल है दृष्टि का, तुझ सम जग में सुख धाम नहीं।
निज में ही लीन रहो आत्मन्! पर में मिलता विश्राम नहीं।।6।।

(75) सफल जीवन

(तर्ज : प्रेम भाव हो सब जीवों से...)

पर की आस धरे क्यों मूरख, व्यर्थ जगत में भ्रमता है।
कार्य किसी का कभी न कोई, अरे! दूसरा करता है।। 1।।
अपना सुख-दुःख स्वयं ही भोगे, जीव सदा ही इकला है।
साथी कोई न भव में भी है, मुक्ति माँहि भी इकला है।। 2।।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल भाव तो न्यारे-न्यारे सबके हैं।
हो संयोग भले ही चाहे, निज-निज रूप न तजते हैं।। 3।।

निमित्त-नैमित्तिक बने सहज, पर कर्त्ता-कर्म न बनता है।
शक्ति स्वयं में व्यक्त स्वयं हो, कोई न कर्त्ता-हर्त्ता है।। 4।।
झूठे हैं संकल्प-विकल्प, अरु झूठी पर की ममता है।
भेद-विज्ञान करो अंतर में, धारो सुखमय समता है।। 5।।
संयोगों की सर्व व्यवस्था, जानो उदयाधीन है।
अन्तर्मुख हो आतम अनुभव, करो सुख स्वाधीन है।। 6।।
देखो कैसे उपसर्गों में, समता धरि निज ध्यान किया।
उन संतों ने सहज निरंजन, अविनाशी पद प्राप्त किया।। 7।।
उनके जीवन से शिक्षा ले, हर्षित हो कल्याण करो।
उदासीन हो पर भावों से, धीर-वीर-गम्भीर बनो।। 8।।
जीवन सफल हुआ उन ही का, जिन रत्नत्रय प्राप्त किया।
पंच परावर्तन से छूटे, अचल सिद्ध पद प्राप्त किया।। 9।।

(76) भव-रोग

(तर्ज : ज्ञान ही सुख है राग ही दुख है ...)

ज्ञान में राग ना, ज्ञान में रोग ना,
राग में रोग है, राग ही रोग है।। टेक।।
ज्ञानमय आत्मा, राग से शून्य है,
ज्ञानमय आत्मा, रोग से है रहित।
जिसको कहता तू मूरख बड़ा रोग है,
वह तो पुद्गल की क्षणवर्ती पर्याय है।। 1।।
उसमें करता अहंकार-ममकार अरु,
अपनी इच्छा के आधीन वर्तन चहे।

किन्तु होती है परिणति तो स्वाधीन ही,
अपने अनुकूल चाहे, यही रोग है।। 2।।
अपनी इच्छा के प्रतिकूल होते अगर,
छटपटाता दुखी होय रोता तभी।
पुण्योदय से हो इच्छा के अनुकूल गर,
कर्त्तापन का तू कर लेता अभिमान है।। 3।।
और अड़ जाता उसमें ही तन्मय हुआ,
मेरे बिन कैसे होगा ये चिन्ता करे।
पर में एकत्व-कर्तृत्व-ममत्व का,
जो है व्यामोह वह ही महा रोग है।। 4।।
काया के रोग की बहु चिकित्सा करे,
परिणति का भव रोग जाना नहीं।
इसलिये भव की संतति नहीं कम हुई,
तूने निज को तो निज में पिछाना नहीं।। 5।।
भाग्य से वैद्य सच्चे हैं तुझको मिले,
भेद-विज्ञान बूटी की औषधि है ही।
उसका सेवन करो समता रस साथ में,
रोग के नाश का ये ही शुभ योग है।। 6।।
रखना परहेज कुगुरु-कुदेवादि का,
संगति करना जिनदेव-गुरु-शास्त्र की।
इनकी आज्ञा के अनुसार निज को लखो,
निज में स्थिर रहो, पर का आश्रय तजो।। 7।।

तेरा भव रोग निश्चित ही मिट जायेगा,
स्वास्थ्य अविचल तू निज में ही पा जायेगा।
फिर जरूरत नहीं अक्ष विषयों की कुछ,
होगा निज में ही निज का सहज भोग है ॥8॥

(77) दुःख के कारण भोग

रोगों की खान, दुःख के हैं कारण।
इन्द्रिय के भोग, नहीं है मनोग।। टेक।।
लगते हैं मीठे, किन्तु है विषमय।
किंपाक फल सम, इन्द्रिय के भोग।। 1।।
आतम से न्यारे, रहते सदा ही।
कैसे हो सुख के कारण ये भोग।। 2।।
आश्रय से इनके होते विकल्प ही।
प्रत्यक्ष आकुलतामय ही हैं भोग।। 3।।
प्राप्ति कठिन है भोग पराधीन।
वियोग में, शोकमय हैं भोग।। 4।।
पाप के बीज हैं, विपाक दुःखमय।
तृष्णा के कारण, जानो ये भोग।। 5।।
इनमें ही फंस कर होती है दुर्गति।
संसार वृद्धि के हेतु भोग।। 6।।
भोगों को हमने नहीं भोगा अब तक।
इसमें हमारा हुआ उल्टा भोग।। 7।।
हड्डी चबाते हुए श्वान के सम।
अविचारित रम्य लगें मात्र भोग।। 8।।

अरे! जोंक सम देव भी हैं तड़फते।
भोगों में आसक्त करते हैं शोक।। 9।।
वॉसों की छाया के सम क्लेश कारक।
छोड़ो रे छोड़ो अभी इन्द्रिय भोग।। 10।।
सौभाग्य से जैन शासन है पाया।
करो अब अतीन्द्रिय आनंद का भोग।। 11।।
पियो ज्ञान अमृत सदा ही निरन्तर।
मिटे जिससे संसारमय इच्छा रोग।। 12।।

(78 कषाय-त्याग

है मोह महा दुःख मूल अरे अब तजियो जी।
कर निज-पर भेद-विज्ञान, स्व-हित में लगियो जी।। टेक।।
यह स्वर्णिम अवसर आया, जिनवर का दर्शन पाया।
है क्रोध भयंकर आग, दूर ही रहियो जी।। कर.।। 1।।
जिनवाणी पढ़ो-पढ़ाओ, निर्णय में चिप्त लगाओ।
है मान महा विष रूप, ज्ञान करि तजियो जी।। कर.।। 2।।
गुरु शिक्षा उर में धारो, सब छल प्रपंच परिहारो।
है सरल भाव सुखकार, सदा ही धरियो जी।। कर.।। 3।।
नित बीज पाप के बोवे नहीं लाभ लोभ से होवे।
संतोष महा सुखकार, सुधारस पीवो जी।। कर.।। 4।।
परिहास क्लेश उपजावे, परिहास का पात्र बनाबे।
रति-अरति दुःख का हेतु, जानिके तजियो जी।। कर.।। 5।।
संयोग-वियोग स्वरूप क्यों, शोक करे दुख रूप।
रे घृणा अधोगति कारण, लखि परिहरियो जी।। कर.।। 6।।

है काम महाअघकारण, वेदों का करो निवारण।
है ब्रह्मचर्य अविकार सहज ही धरियो जी।। कर.।। 7।।
भवि तत्त्व भावना भाओ, निज शुद्ध चिदातम ध्याओ।
है वीतराग पद सार, प्रगट अब करियो जी।। कर.।। 8।।

(79) जन्म दिन

बधाई हो बधाई हो, जन्म दिन की बधाई हो।
जन्म हो धर्म से सार्थक, सदा ही सुखदाई हो।। 1।।
अहो जिनराज की श्रद्धा, अहो मुनिराज की श्रद्धा।
अहिंसा धर्म की श्रद्धा, सदा ही सुखदाई हो।। 2।।
प्रयोजनभूत तत्त्वों का,सदा श्रद्धान सम्यक् हो।
भेद-विज्ञान समता भाव, हमको सुखदाई हो।। 3।।
प्रमाणीक नीतिमय जीवन, ज्ञान-वैराग्यमय जीवन।
सत्य संतोषमय जीवन, सदा ही सुखदाई हो।। 4।।
सहज संयम का हो पालन, अहो शुद्धात्म आराधन।
समाधि अन्त में प्रभुवर, सहज ही सुखदाई हो।। 5।।
जन्म हो सार्थक स्वामी, तेरे चरणों की भक्ति से।
अहो जिनराज का शासन, सदा ही सुखदाई हो।। 6।।

(80) संसार दर्शन

जी भर विषयों को भोगा, इनमें नहीं सुःख लगारा।
ज्यों-ज्यों भोगे त्यों बढ़ती, तृष्णा अग्नि दुखकारा।। टेक।।
आशा का गड्ढा ऐसा, यह लोक अणूवत जिसमें।
ऐसे हैं जीव अनन्तों, कितना किसके हिस्से में।।
फिर कैसे भर सकता है, अब सोच तजो दुखकारा।। 1।।

हाथी के भय से राही, पहुँचा था गहन विपिन में।
कुएँ में वृक्ष को देखा, और लटक गया डाली में।।
चूहे काटें वह डाली, नीचे अजगर मुँह फारा।। 2।।
गुस्से में आकर गज ने, उस वृक्ष को था झकझोरा।
छत्ते से निकल पथिक पर, मधुमक्खी झुंड था दौड़ा।।
ऊपर से आई मुँह में, मधु बिन्दु इक तृष्णा कारा।। 3।।
पुण्योदय से विद्याधर, ऊपर से उसे पुकारे।
ओ पथिक व्यर्थ दुख भोगो, अब आओ साथ हमारे।।
पर शहद बिन्दु आशा में, मर गया पथिक बेचारा।। 4।।
त्यों विषयों के लालच में, यह तड़फ रहा है प्राणी।
सद्गुरु की सीख न मानें, शिवपुर की राह भुलानी।।
इन्द्रिय सुख की आशा में, नित बाँधे पाप अपारा।। 5।।
मृगतृष्णा सम ज्यों दौड़े, त्यों दूर-दूर सुख भागे।
बस तड़फ-तड़फ मर जाता, सुख लेश नहीं त्यों पावे।।
हैं धन्य-धन्य वे ज्ञानी, सुखमय निज रूप निहारा।। 6।।
'आत्मन्' अब भी चेतो तुम, झूठी पर आशा त्यागो।
अरु ज्ञान चेतना द्वारा, निज चिन्मय रूप संभारो।।
सच्चिदानंद में थिर हो, पाओ शिवपद अविकारा।। 7।।

(81) कर्मों की लीला

(तर्ज : आत्मन् अपनी वैभव गाथा...)

कर्म जीव के दुश्मन हैं, इनसे बचना आसान नहीं।
इन्हीं के कारण से जीव, अनादि से पाता सुख सम्मान नहीं।।1।।
जीव रूप को ढके हुए, ज्यों पर्दा ढकता मूरत को।
ज्ञानादि गुणों को घात करे, प्रकटाता नहीं उस सूरत को।। 2।।

तीन प्रकार कर्म के हैं, नो-द्रव्य-भाव सुन लो भाई।
द्रव्य कर्म के आठ भेद, श्री जिनवाणी में बतलाई।। 3।।
दर्शनावरणी-ज्ञानावरणी, दर्शन-ज्ञान को हरते हैं।
वेदनीय-सांसारिक सुख-दुख के निमित्त को धरते हैं।। 4।।
मोहनीय कर्मों का नृप है, जीव को रूप भुलाता है।
सांसारिक माया चक्कर में, फँसा के दुख दिलाता है।। 5।।
जीव उदय से आयु कर्म के, किसी गति में रुकता है।
उसे नष्ट कर जीव काय में, इक क्षण नहीं ठहरता है।। 6।।
नाम कर्म से काया रचना, इष्ट-अनिष्ट जु होती है।
सुन्दर रूप इसी से मिलता, विकृत आकृति होती है।। 7।।
गोत्र कर्म ऊँचे या नीचे, कुल में जन्म है करवाता।
अन्तराय के उदय समय में, होता काम न हो पाता।। 8।।
इसप्रकार से अष्टकर्म, संसार में चक्कर करवाते।
अपने चंगुल में फँसा जीव को, भारी दुख हैं पहुँचाते।। 9।।
इसलिए उपेक्षित इन्हें करो, तब ही आत्महित होवेगा।
इनके चक्कर से छूटते ही, सुन्दर शुद्धात्म होवेगा।। 10।।

(82) सांसारिक संबंध

(तर्ज : परम उपकारी जिनवाणी...)

अरे संसार में कोई, नहीं अपना दिखाता है।
जिसे हम मानते अपना, वही नहीं काम आता है।। 1।।
स्वार्थ का राज्य यहाँ पर है, फँसे इसमें सभी प्राणी।
मोह ही क्लेश का कारण, समझ में आज आता है।। 2।।

यदि कुछ पास में धन है, सगे तब चार होते हैं।
विनश्वर धन के जाने पर, नहिं कोई मुँह दिखाता है।। 3।।
मतलबी मात सुत सब ही भाई भी आसरा चाहते।
बिना स्वारथ के इस जग में नहीं कोई निभाता है।। 4।।
सभी कहते हैं मेरा है, आय मित्रों ने घेरा है।
विपत्ति के समय में, मित्र भी छोड़ जाता है।। 5।।
यही संसार का सुख है, बाद में दुख का कारण है।
लीन अपने में तुम होवो, यही सब सुख का दाता है।। 6।।
विषमता है दुखों का घर, सुख समता से होता है।
सहज निज के ही आश्रय से, क्लेश सब दूर होता है।। 7।।
पराश्रय छोड़कर आत्मन्! शीघ्र निज रूप पहिचानो।
स्वरुचि, अनुभूति, थिरता से, सिद्धपद प्राप्त होता है।। 8।।

(83) अशुचि काया

मिथ्यात्व जगत का मूल है, ये ही दुःखमय शूल है।
काया को ही अपना माना, ये ही हमारी भूल है।। 1।।
इसी भूल से जग में फँसा है, पर से राग बढ़ाता है।
क्षणभंगुर काया के कारण, निज सर्वस्व लुटाता है।। 2।।
पर ये पुद्गल और तू चेतन, इससे तब क्या नाता है।
तू तो जाता अन्य जगह, यह यहीं पड़ा रह जाता है।। 3।।
अत्यन्त अशुचि मल का घर है, इसका शृंगार विफल ही है।
क्षीरोदधि से धोने पर भी, यह रहता सदा समल ही है।। 4।।
अतएव ममत्व हटा करके, अब आत्म स्वरूप विचारो तुम।
संसार त्याग कर तप करना, अरु अपना कार्य सम्हारो तुम।।5।।

(84) षट्-कारक दर्शन

मैं पर का कर्त्ता कभी नहीं, पर तो है मेरा कर्म नहीं।
मेरे द्वारा पर कर्म नहीं, मुझ हेतु कोई पर कर्म नहीं।। 1।।
मुझमें से हो पर कार्य नहीं, पर कार्य का मैं आधार नहीं।
पर मेरा कर्त्ता कभी नहीं, मैं भी हूँ पर का कर्म नहीं।। 2।।
पर के द्वारा मम कार्य नहीं, पर हेतु कोई पर कार्य नहीं।
पर में से मेरा कार्य नहीं, मम कार्य का पर आधार नहीं।। 3।।
मैं कर्त्ता-कर्म-सम्प्रदान नहीं, अधिकरण करण अपादान नहीं।
षट्-कारक कार्य के कार्य में हैं, मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।। 4।।
है कार्य अरे पर्याय क्षणिक, अपने से अपने में होती।
है कार्य स्वयं षट्कारकमय, अति भिन्न ज्ञानमय मैं ज्योति।। 5।।
हूँ ध्रुव अखण्ड सच्चिदानंद, निरपेक्ष त्रिकाली अविकारी।
हो परिणति सर्व विकल्प मुक्त, शाश्वत स्वभाव की बलिहारी।।6।।

(85) सच्ची-भक्ति

सच्ची भक्ति नहीं कीर्तन पूजनादि से होती है।
दीप जलाने, धूप चढ़ाने पर भी विशुद्धि सोती है।। 1।।
कर जोड़ो, माथा पटको, या पड़े रहो तुम मंदिर में।
भगवान-भक्त का ज्ञान नहीं, तो शान्ति न होगी अन्दर में।। 2।।
सर्वप्रथम देव-शास्त्र-गुरु का रूप जानकर ज्ञानी से।
दृढ़ श्रद्धा, परिणाम शुद्ध कर, वैसा गाओ वाणी से।। 3।।
भगवत्-गुण गाते-गाते, वैराग्य भावना मन में हो।
गाने का राग छूट जावे, अरु पुनः ध्यान में तन्मय हो।। 4।।

प्रभु सम ही रूप विचारें निज, पर्याय दोष को गौण करें।
प्रभु से भी दृष्टि हटा करके, उन सम ही जाननहार रहें।। 5।।
भेद रूप भक्ति का राग मिटे, निज रूप स्वयं भगवान दिखे।
साधक से साध्य अवस्था हो, रागादि अठारह दोष नशे।। 6।।
भगवान स्वयं ही बनने का, जो यह सम्यक् पुरुषार्थ अरे।
है ज्ञान रूप सच्ची भक्ति, भक्तों को जग से पार करे।। 7।।

(86) सत्प्रेरणा

अपने मन को नहीं भटकाओ,
वीतराग प्रभु शरण में आओ।
गुरु निर्ग्रन्थ भजो सुखकारी,
जिनवाणी समझो हितकारी।। 1।।
धर्म अहिंसा है मंगलमय,
जीवघात है महाक्लेशमय।
सत्य वचन बोलो सुखदायी।
छोड़ो चोरी अति दुःखदायी।। 2।।
शील धर्म को धारण करना,
परिग्रह की तृष्णा को तजना।
शर्त लगाना छोड़ो भाई,
करो समर्पण आनन्ददाई।। 3।।
कोई नशा कभी मत करना,
शुद्ध सात्विक भोजन करना।
अण्डा, माँस कहीं मत खाना,

नहीं शिकार का भाव भी लाना।।4।।
नहीं अन्याय, अनीति करना,
लोकनिन्द्य कोई काम न करना।
बड़े जनों का आदर करना,
छोटों से स्नेह भी धरना।। 5।।
उत्तेजित तुम कभी न होना,
बीज दुःख के नहीं तुम बोना।
मिथ्या अहंकार नहीं लाना,
पर वस्तु पर मन न चिगाना।।6।।
सब ही काम समय पर करना,
भेदविज्ञान हृदय में धरना।
भूल कभी भी नहीं छिपाना,
कभी बहाना नहीं बनाना।।7।।
अच्छी शिक्षा सदा ही लेना,
योग्य दान भी सहज ही देना।
इच्छाओं के वश मत होना,
अपना धर्म कभी मत खोना।।8।।

(87) पुरुषार्थ दशक

अन्तरंग में आप निहार, अपना साँचा तारणहार।। टेक।।
सर्व विभावों के हो पार, सहज स्वानुभूति के द्वार।
हो निशंक निर्भेद निहार, उछले सुखसागर सु-अपार।। 1।।

शाश्वत गुण अनन्त भण्डार, नित्य निरामय प्रभु अविकार।
स्वसन्मुख हो सहज निहार, क्लेशोदधि का पाओ पार।। 2।।
त्याग सर्व मिथ्या संकल्प, बहु अनर्थकर सर्व विकल्प।
हो निर्द्वन्द्व अहो अवधार, ध्येयरूप त्रिभुवन में सार।। 3।।
महाभाग्य पाये जिननाथ, दर्शाते निज चैतन्यनाथ।
गुरु निर्ग्रन्थ स्वरूप चितार, शुभ निमित्त पायो सुखकार।। 4।।
अनहोनी तो कभी न होय, होने योग्य सहज ही होय।
मिथ्या कर्ताबुद्धि विडार, सहज सदा वर्ते निर्धार।। 5।।
निज में ही साधो परमार्थ, भो आत्मन्! ये ही पुरुषार्थ।
हो अविरल शिवपद दातार, ये ही दिव्यध्वनि का सार।। 6।।
महासाध्य शिवरूप विचार, निजस्वभाव साधन सुखकार।
हो निर्ग्रन्थ लहो अविकार, समयसार नित मंगलकार।। 7।।
कर्मरूप विष वृक्षों के फल, बिन भोगे ही करो अफल।
हो निःशल्य निश्चिंत निहार, ज्ञायक परमेश्वर हितकार।। 8।।
भाओ भावना मंगलरूप, ध्याओ चिदानन्द चिद्रूप।
स्वाभाविक अक्षय शृङ्गार, नियमसार प्रगटे अविकार।। 9।।
अन्य न कोई दिखे उपाय,अपने चित्त में थिरता लाय।
रहो सहज ही जाननहार, विलसो नित्यानन्द अपार।। 10।।

(88) श्रद्धा का स्वरूप

श्रद्धा तो काल अनादि से, चेतन का अनुजीवी गुण है।
पर श्रद्धा का विपरीतपना, चेतन का भारी दुर्गुण है।। 1।।

चेतन स्वरूप होकर भी श्रद्धा, जड़ को निज रूप समझती है।
स्वामी स्वभाव से दूर रह, भव-भव फाँसी दुःख सहती है।।2।।
चेतन चेतो पहले तो निज, श्रद्धा को सम्यक् कर लेना।
श्रद्धा रानी तुम सुनो-सुनो, निज चेतन पर दृष्टि देना।। 3।।
चेतन स्व को तो स्व स्वीकार करे, पर को पर मान छोड़ देवे।
तो दिशा बदलने पर चेतन, खुद ही यह दशा बदल जावे।।4।।
पुरुषार्थ स्व-सन्मुख होवेगा, निज का सुख निज में प्रकटेगा।
फिर शीघ्र मुक्त पद पावेगा, भव में फिर कभी न भटकेगा।।5।।
पर श्रद्धा तो विपरीत रहे, अरु अन्य उपाय करे भारी।
फिर भी सुख लेश न पावेगा, होगी भव की ही तैयारी।।6।।
अतएव भव्य यह कार्य प्रथम, श्रद्धा में निज महिमा आना।
चेतन की श्रद्धा स्व-चेतन में ही, बस तन्मय हो जाना।। 7।।

(89) वीर भक्ति दशक

हे वीरनाथ तुम दर्शन कर, मन में अति ही आनंद हुआ।
सम्यक् मुक्ति का मार्ग दिखा, निश्चिंत हुआ निर्द्वन्द्व हुआ।।टेक।।
महिमा अन्तर में भास रही, शब्दों से कैसे कहूँ प्रभो।
हो अनन्य शरण सर्वस्व तुम्हीं, सर्वस्व समर्पण रहे विभो।। 1।।
हो वीतराग निर्दोष परम है सहज शांत मुद्रा प्रभुवर।
यह जन्म जिनेश्वर सफल हुआ, रत्नत्रय पाया हे जिनवर।। 2।।
है दिव्यज्ञान है दिव्य तेज, प्रभु सन्मुख राग नहीं टिकता।
ज्यों सूर्योदय से तिमिर नशे, त्यों सब संक्लेश स्वयं भगता।।3।।

अन्तर में ढलती वृत्ति सहज, हो सहज उदासी आनंदमय।
जब तुम समीप आ जाता हूँ, गुण चिंतन करता मंगलमय।। 4।।
हे लोकोत्तम आदर्श रहो, पुरुषार्थ जगे मेरा तुम सम।
निरपेक्ष रहूँ, संतुष्ट रहूँ निर्ग्रन्थ रहूँ मैं भी प्रभु सम।। 5।।
निज परम भाव आराध्य रहे, आराधन मंगल रूप सदा।
ज्ञाता हूँ ज्ञाता मात्र रहूँ, वैभाविक परिणति हो न कदा।। 6।।
अब नहीं कामना शेष रही, जग से निराश होकर आया।
निष्काम नमन हो चरणों में, प्रभु सम निज रूप मुझे भाया।। 7।।
निज में ही निज से तृप्त रहूँ, निज की प्रभुता प्रगटाऊँगा।
तुम आवागमन विमुक्त हुए, मैं तुम समीप ही आऊँगा।। 8।।
प्रभु महाभाग्य से पाया है, यह दुर्लभ मंगलमय अवसर।
श्रद्धा के सुमन समर्पित हैं, विचरूँ जिनपंथ अहो सत्वर।। 9।।
जिननाथ सदा जयवंत रहे, नित भक्तिभाव से गुण गावें।
जिनतीर्थ सदा जयवंत रहे, हम नित्य नये मंगल पावें।। 10।।

(90) महावीर संदेश

(तर्ज : नसे घातिया कर्म अर्हन्त देवा...)

महावीर ने हमको संदेश दीना,
करो कार्य अब तक न जो तुमने कीना।। टेक।।
अनादि से बहु योनियों में गये तुम,
असहनीय पीड़ा नरक में उठाई।
पशुगति पराधीन छेदन अरु भेदन,

क्षुधा बहु तृषा शीत गर्मी भी पाई।।
लगे चार संज्ञा में ना बोध कीना,
करो कार्य अब तक न जो तुमने कीना।। 1।।
कभी पुण्य करके गति देव में जा,
विषय भोग में मग्न हो सुधि सिराई।
नरगति भी पाकर के मूरख बना यों,
नहीं की धर्म रूप धन की कमाई।।
अतीन्द्रिय को त्याग विषय सुख ही लीना,
करो कार्य अब तक न जो तुमने कीना।। 2।।
पुद्गल को निज रूप स्वीकार करके,
तन-धन की चिन्ता तो दिन-रात कीनी।
पाषाण खण्डों को ही रत्न जाना,
तृष्णा उन्हीं की बढ़ी थी नवीनी।।
स्व-पर भेद-विज्ञान अब तक न कीना,
करो कार्य अब तक न जो तुमने कीना।। 3।।
आश्रव के कारण शुभाशुभ विकारी,
भावों में मस्त रहे तुम तो अब तक।
अटक करके साता की अनुकूलता में,
निज भाव धारा नहीं तुमने अब तक।।
संसार-वृद्धि में रहे तुम प्रवीना,
करो कार्य अब तक न जो तुमने कीना।। 4।।

जिनवाणी सुनना, पढ़ना, सुमिरना,
तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान करना।
वैराग्य भावना प्रतिक्षण भाकर,
मुनिव्रत धरना निज में ही रहना।।
भव ना धरो पाओ शिवपद नवीना,
करो कार्य अब तक न जो तुमने कीना।। 5।।

(91) महावीर जयन्ती संदेश

तभी वीर की है जयन्ती मनाना,
उन सम ही प्रभु हम निज को बनाएँ।
महावीर तो मोक्ष में जा पधारे,
उन जैसा निश्चिंत जीवन बनाएँ।। 1।।
वे भी रुले चार गतियों में हमसे,
नहीं आदि प्रभु का भी उपदेश माना।
मतान्तर चलाये भ्रमे चार गति में,
पुनः सिंह हो भी निजात्मा पिछाना।। 2।।
तत्क्षण हुए वे अणुव्रत के धारी,
किया कुछ न संक्लेश परिणाम दुखमय।
विशुद्ध भाव से प्राण छोड़े उन्होंने,
अतः देव होकर मनुज योनि पायी।। 3।।
इसी भाँति करते रहे साधना वे,
दर्शन विशुद्धयादि भावना भायी।

जगत को न देखा, स्वयं को सुधारा,
भव दसवें तीर्थंकर पदवी पायी।। 4।।
रत्नत्रय पथ पर चले वे तो अविचल,
न परवाह कीनी सुखों अरु दु:खों की।
तभी पूर्ण ज्ञानी सुखी वीतरागी,
हुई दिव्यध्वनि जो निधि है हितों की।। 5।।
न वाणी को माने, न आत्मा पिछाने,
दया उर न धारे, परिग्रह से लागे।
सुने शास्त्र किंचित् वहीं छोड़ देवे,
अभिमान धारे, अमल में न लावे।। 6।।
अन्याय करते, सदा द्वेष धरते,
अभक्ष्यों के भक्षण से किंचित् न डरते।
अरे! सोचो भाई, कहा क्या प्रभु ने,
जय मात्र बोले या निजात्मा सुधारें।। 7।।
अरे मित्र! अच्छी हो कितनी ही औषधि,
सेवन बिना ज्यों नहीं रोग जाता।
इसी भाँति वाणी प्रभु वीर की भी,
माने से तत्क्षण सभी दु:ख भगाता।। 8।।
परन्तु दिखावा से कुछ भी न होगा,
दुर्गति ही होगी, न शान्ति मिलेगी।
यदि शान्ति चाहो, अरे भ्रात सच्ची,
तो स्वाध्याय से तृप्ति निश्चित मिलेगी।।9।।

अत: मात्र कर्तव्य है हम सभी का,
जय ही न बोलें, वाणी भी मानें।
दृष्टि करें हम निजात्मा में प्रभु सम,
महावीर को हम निजात्मा में पा लें।। 10।।

(92) चार अनुयोगमयी जिनवाणी

(तर्ज : आओ भाई तुम्हें सुनायें...)

समझो-समझो अहो मुमुक्षु, श्री जिनेन्द्र की अमृत वाणी।
भव-आताप मिटाने को जो, शुद्ध ज्ञानमय सुधा समानी।। 1।।
ओंकार वाणी को गुरु ने, चार भाग में दिया सजा।
द्रव्यं-करणं-चरणं प्रथमं, बना दिए अनुयोग महा।। 2।।
चार शैलियों द्वारा इनमें, वस्तु स्वरूप दिखाया है।
भाषा-शैली, विषय भिन्न पर, तत्त्व एक दर्शाया है।। 3।।
स्याद्वाद का लिया सहारा, पूर्ण विश्व का किया कथन।
किन्तु नहीं संशय उत्पादक, नहिं सिद्धांत कहीं खण्डन।। 4।।
द्रव्यानुयोग में द्रव्य, तत्त्व अरु अस्तिकाय हैं बतलाये।
आश्रय करने योग्य शुद्ध आतम के गुण गुरुवर गाये।। 5।।
नव तत्त्वों से भिन्न शुद्ध आतम की महिमा पहिचानें।
करें प्रतीति, अनुभव थिरता, निश्चय ही शिवपद पावें।। 6।।
सूक्ष्म कथन करणानुयोग में, भेद-प्रभेद सभी गाये।
अज्ञानी नहीं समझे, जैसे घट में जलधि नहीं आये।। 7।।
पर जिसको हम जान सकें नहीं, उसमें संशय व्यर्थ अरे।
है सही प्रयोजनभूत जहाँ, अप्रयोजन में क्यों झूठ कहे।। 8।।

चरणानुयोग में बाह्य क्रियाओं की प्रधानता दर्शायी।
परिणामों की निर्मलता की, बाह्य विधि गुरु बतलाई।। 9।।
जैसे कृषक बाह्य साधन कर बीज खेत में बोता है।
बाह्य साधना कर त्यों ज्ञानी अंतर शोधन करता है।। 10।।
पर बाहर में अटक न जाना, धर्म नहीं है बाहर में।
धर्म आत्मा का स्वभाव है, पा लेना निज अन्तर में।। 11।।
प्रथमानुयोग में जीवन गाथा महापुरुषों की प्रगटाई।
पापों से हट, धर्म मार्ग में लगने की रुचि करवाई।। 12।।
वीतरागता ही इनके जीवन से, भाई! ग्रहण करो।
कमजोरी का पकड़ बहाना, राग का पोषण नहीं करो।। 13।।
यों चारों अनुयोगों में कहीं निश्चय, कहीं व्यवहार प्रधान।
यत्र-तत्र है उपादान जहँ-तहँ, निमित्त का भी विधान।। 14।।
किन्तु ध्यान रखना भाई है, नय व्यवहार समझने को।
निश्चय नय वर्णित आत्म-रूप ही, लक्ष्य योग्य है रखने को।। 15।।
है उपादान तैयार जहाँ, वहाँ नभ से निमित्त उतरता है।
संयोगी दृष्टि अतः तजे, वह भव से पार उतरता है।। 16।।
अतएव भव्य दृढ़ श्रद्धा कर, हैं जैनशास्त्र सत्यार्थ सदा।
नय से भावार्थ समझ इनका, पायेगा जग में दुख न कदा।। 17।।
पर ज्यों अग्नि दाहक-पाचक, यदि हाथ उसी में डालेगा।
तो अग्नि का कुछ दोष नहीं, तेरा अज्ञान जलायेगा।। 18।।
बस इसी भाँति यदि शब्द जाल में, उलझ लड़ाई ठानेगा।
तो सदा जगत में भ्रमण करे, आतम स्वरूप नहीं जानेगा।। 19।।

हे आत्मन्! सुनो सीख गुरु की, जिनवाणी का अभ्यास करो।
निज ध्रुव शुद्धातम का आश्रय कर, निज परिणति पवित्र करो।।20।।

(93) सच्ची-माता

लौकिक माताएँ तो शरीर से ही राग करें,
पंचेन्द्रिय भोगों की रुचि सिखलाती हैं।
नग्न हुआ पैदा तो भी वस्त्रों का आवरण,
झूठ-चोरी औ कुशील पाप ही बढ़ाती है।। 1।।
अनादि से अनुभूत काम-भोग बंध दुःख,
फिर भी उन्हीं में मूढ़ जीव को फँसाती हैं।
कभी बहुमान अरु सेवा से प्रसन्न होय,
भव वृद्धि रूप अभिप्राय को सुनाती हैं।। 2।।
सीख बिना सीख रहे विषयों की केलि जीव,
इन विषयों में आचार्यत्व दिखलाती हैं।
तो भी तुष्ट नहीं होय, मानव से पशु करें,
कामिनी से नाता जोड़, हर्ष को मनाती हैं।। 3।।
चार पैर होने पर छह की अभिलाषा करें,
पौत्र हेतु नाना भाँति मनौती मनाती हैं।
धर्म त्याग संयम बुढ़ापे में करन योग,
ऐसे कहि संयम से गिरे को गिराती हैं।। 4।।
क्या कहें अधिक ये तो मोह में अचेत करें,
एक जिनवाणी माँ ही बंध से छुड़ाती है।
सम्यक्त्व की ज्योति जगा,मोह अंधकार भगा,
सच्चे सुख का सभी को मारग जताती है।। 5।।

पंच पाप, सात व्यसन, नरक, निगोद द्वार,
स्वर्ग सुख दुःख रूप उनसे बचाती है।
अतीन्द्रिय निराकुल अनन्त अव्याबाध सुख,
आत्मा में आत्मा से मिले सिखलाती है।। 6।।

(94) जिनवाणी माँ

जिसने जिनवाणी को अपनी सच्ची माता बनाई।
नहीं बनानी पड़ती उसको, दूजी माता भाई।। टेक।।
स्वयं सिद्ध अनुपम शुद्धातम, जिनवाणी दरशाये।
पर्यायों के स्वांगों से न्यारा, चिद्रूप दिखाये।।
महिमावंत स्वरूप सुनत ही, भेदज्ञान प्रगटाई।। 1।।
रागादिक सब न्यारे भासे, एक स्वरूप दिखाता।
अहो! अपरिमित सुख का सागर, अन्तर में लहराता।।
ढले स्वयं उपयोग स्वयं में भेद न देय दिखाई।। 2।।
मोह पलावे, द्रव्यदृष्टि हो, भव सन्तति कट जाती।
अपनी प्रभुता अपने में ही, मुक्त स्वरूप दिखलाती।।
उस आनंद को वे ही जानें, जिन अंतर विलसाई।। 3।।
घर कारागृह वनिता बेड़ी, भोग रोग सम दीखें।
निज रस चाख्यो फिर न सुहाये, अन्य बाह्य रस फीके।।
रहें उदास अलिप्त, धन्य निर्ग्रन्थ भावना भाई।। 4।।

होय विरागी सब परिग्रह तज, जिनमुद्रा को धारें।
होय अकिंचन केशलोंच कर, मोह शत्रु को मारें।।
प्रचुर स्व-संवेदन रस प्रगट्यो, चौकड़ी तीन नशाई।। 5।।
पंच महाव्रत समिति शोभे, पंचेन्द्रिय जय पावें।
षट्-आवश्यक मज्जन, मंजन रहित नग्न दिखलावें।।
पाणिपात्र में खड़े-खड़े, एक बार हि अशन कराई।। 6।।
केश घास सम लुंचे निर्मम, इक करवट भू सोवें।
नाम मात्र निद्रा है मुनि तो जागृत निजपद जोवें।।
परीषह विजयी उपसर्गों में, अविचल ध्यान लगाई।। 7।।
अहो! यतीश्वर सावधान रह, निज स्वरूप को साधें।
क्षपक श्रेणी आरोहण करते, कर्म स्वयं ही भागें।।
ध्रुव स्वभाव को ध्याते-ध्याते, ध्रुव प्रभुता प्रगटाई।। 8।।
अहो! ज्ञान में भव तो नहीं है, भव का भाव नहीं है।
ज्ञान स्वरूप सहज शुद्धातम, एकहि शरण सही है।।
प्रगटी ज्ञानानुभूति अहो! तृप्ति निज में ही पाई।। 9।।

(95) जिनमार्ग

कितना सुन्दर, कितना सुखमय, अहो सहज जिनपंथ है।
धन्य-धन्य स्वाधीन निराकुल, मार्ग परम निर्ग्रन्थ है।।टेक।।
श्री सर्वज्ञ प्रणेता जिसके, धर्म पिता अति उपकारी।
तत्त्वों का शुभ मर्म बताती, माँ जिनवाणी हितकारी।।
अंगुली पकड़ सिखाते चलना, ज्ञानी गुरु निर्ग्रन्थ हैं।।धन्य.।। 1।।

देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा ही, समकित का सोपान है।
महाभाग्य से अवसर आया, करो सही पहिचान है।।
पर की प्रीति महा दुखःदायी, कहा श्री भगवंत है।
धन्य-धन्य स्वाधीन निराकुल, मार्ग परम निर्ग्रन्थ है।। 2।।
निर्णय में उपयोग लगाना ही, पहला पुरुषार्थ है।
तत्त्व विचार सहित प्राणी ही, समझ सके परमार्थ है।।
भेदज्ञान कर करो स्वानुभव, विलसे सौख्य वसंत है।।धन्य.।। 3।।
ज्ञानाभ्यास करो मनमाहीं, विषय-कषायों को त्यागो।
कोटि उपाय बनाय भव्य, संयम में ही नित चित पागो।।
ऐसे ही परमानन्द वेदें, देखो ज्ञानी संत हैं।।धन्य.।। 4।।
रत्नत्रयमय अक्षय सम्पत्ति, जिनके प्रगटी सुखकारी।
अहो! शुभाशुभ कर्मोदय में, परिणति रहती अविकारी।।
उनकी चरण शरण से ही हो, दुखमय भव का अंत है।।धन्य.।। 5।।
क्षमाभाव हो दोषों के प्रति, क्षोभ नहीं किंचित् आवे।
समता भाव आराधन से निज, चित्त नहीं डिगने पावे।।
उर में सदा विराजें अब तो, मंगलमय भगवंत हैं।।धन्य.।। 6।।
हो निःशंक-निरपेक्ष परिणति, आराधन में लगी रहे।
क्लेशित हो नहीं पापोदय में, जिनभक्ति में पगी रहे।।
पुण्योदय में अटक न जावे, दीखे साध्य महंत है।।धन्य.।। 7।।
परलक्षी वृत्ति ही आकर, शिवसाधन में विघ्न करे।
हो पुरुषार्थ अलौकिक ऐसा, सावधान हर समय रहे।।
नहीं दीनता, नहीं निराशा, आतम शक्ति अनंत है।। धन्य.।।8।।

चाहे जैसा जगत परिणमे, इष्टानिष्ट विकल्प न हो।
ऐसा सुन्दर मिला समागम, अब मिथ्या संकल्प न हो।।
शान्तभाव हो प्रत्यक्ष भासे, मिटे कषाय दुरन्त है।।धन्य.।। 9।।
यही भावना प्रभो स्वप्न में भी, विराधना रंच न हो।
सत्य-सरल परिणाम रहें नित, मन में कोई प्रपंच न हो।।
विषय-कषायारम्भ रहित, आनन्दमय पद निर्ग्रन्थ है।।धन्य..।। 10।।
धन्य घड़ी हो जब प्रगटावे, मंगलकारी जिनदीक्षा।
प्रचुर स्वसंवेदनमय जीवन, होय सफल तब ही शिक्षा।।
अविरल निर्मल आत्मध्यान हो, होय भ्रमण का अंत है।।धन्य.।। 11।।
अहो! जितेन्द्रिय जितमोही ही, सहज परम पद पाता है।
समता से सम्पन्न साधु ही, सिद्ध दशा प्रगटाता है।।
बुद्धि व्यवस्थित हुई सहज ही, यही सहज शिवपंथ है।।धन्य.।। 12।।
आराधन में क्षण-क्षण बीते, हो प्रभावना सुखकारी।
इसी मार्ग में सब लग जावें, भाव यही मंगलकारी।।
सद्दृष्टि-सद्ज्ञान-चरणमय, लोकोत्तम यह पंथ है।।धन्य.।। 13।।
तीनलोक अरु तीनकाल में, शरण यही है भविजन को।
द्रव्य दृष्टि से निज में पाओ, व्यर्थ न भटकाओ मन को।।
इसी मार्ग में लगें-लगावें, वे ही सच्चे संत हैं।।धन्य.।। 14।।
है शाश्वत अकृत्रिम वस्तु, ज्ञानस्वभावी आत्मा।
जो आतम आराधन करते, बनें सहज परमात्मा।।
परभावों से भिन्न निहारो, आप स्वयं भगवंत है।।धन्य.।। 15।।

(96) मेरा सहज जीवन

अहो! चैतन्य आनन्दमय, सहज जीवन हमारा है।
अनादि अनंत पर निरपेक्ष, ध्रुव जीवन हमारा है।। टेक।।
हमारे में न कुछ पर का, हमारा भी नहीं पर में।
द्रव्य-दृष्टि हुई सच्ची, आज प्रत्यक्ष निहारा है।। 1।।
अनंतों शक्तियाँ उछलें, सहज सुख ज्ञानमय विलसें।
अहो! प्रभुता परम पावन, वीर्य का भी न पारा है।। 2।।
नहीं जन्मूँ नहीं मरता, नहीं घटता नहीं बढ़ता।
अगुरूलघुरूप ध्रुव ज्ञायक, सहज जीवन हमारा है।। 3।।
सहज ऐश्वर्यमय मुक्ति, अनंतों गुणमयी ऋद्धि।
विलसती नित्य ही सिद्धि, सहज जीवन हमारा है।। 4।।
किसी से कुछ नहीं लेना, किसी को कुछ नहीं देना।
अहो! निश्चिंत परमानन्दमय, जीवन हमारा है।। 5।।
ज्ञानमय लोक है मेरा, ज्ञान ही रूप है मेरा।
परम निर्दोष समतामय, ज्ञान जीवन हमारा है।। 6।।
मुक्ति में व्यक्त है जैसा, यहाँ अव्यक्त है वैसा।
अबद्धस्पृष्ट-अनन्य, नियत जीवन हमारा है।। 7।।
सदा ही है न होता है, न जिसमें कुछ भी होता है।
अहो! उत्पाद-व्यय निरपेक्ष, ध्रुव जीवन हमारा है।। 8।।
विनाशी बाह्य जीवन की, आज ममता तजी झूठी।
रहे चाहे अभी जाये, सहज जीवन हमारा है।। 9।।
नहीं परवाह अब जग की, नहीं है चाह शिवपद की।
अहो! परिपूर्ण निष्पृह ज्ञानमय, जीवन हमारा है।।10।।

(97) ज्ञानाष्टक

निरपेक्ष हूँ कृतकृत्य मैं, निज शक्तियों से पूर्ण हूँ।
मैं निरवलम्बी मात्र ज्ञायक, स्वयं में परिपूर्ण हूँ।।
पर से नहीं सम्बन्ध कुछ भी, स्वयं सिद्ध प्रभु सदा।
निर्बाध अरु निःशंक निर्भय, परम आनन्दमय सदा।। 1।।
निज लक्ष से हुआ सुखी, नहिं शेष कुछ अभिलाष है।
निज में ही होवे लीनता, निज का हुआ विश्वास है।।
अमूर्तिक चिन्मूर्ति मैं, मंगलमयी गुणधाम हूँ।
मेरे लिए मुझसा नहीं, सच्चिदानन्द अभिराम हूँ।।2।।
स्वाधीन शाश्वत मुक्त निष्क्रिय, अनन्त वैभववान हूँ।
प्रत्यक्ष अन्तर में दिखे, मैं ही स्वयं भगवान हूँ।।
अव्यक्त वाणी से अहो, चिन्तन न पावे पार है।
स्वानुभव में सहज भासे, भाव अपरम्पार है।।3।।
श्रद्धा स्वयं सम्यक् हुई, श्रद्धान ज्ञायक हूँ हुआ।
ज्ञान में बस ज्ञान भासे, ज्ञान भी सम्यक् हुआ।।
भग रहे दुर्भाव सम्यक्, आचरण सुखकार है।
ज्ञानमय परिणमन भी, अब खुला मुक्ति द्वार है।।4।।
जो कुछ झलकता ज्ञान में, वह ज्ञेय नहिं बस ज्ञान है।
नहिं ज्ञेयकृत किंचित् अशुद्धि, सहज स्वच्छ सुज्ञान है।।
परभाव शून्य स्वभाव मेरा, ज्ञानमय ही ध्येय है।
ज्ञान में ज्ञायक अहो, मम ज्ञानमय ही ज्ञेय है।। 5।।

ज्ञान ही साधन, सहज अरु ज्ञान ही मम साध्य है।
ज्ञानमय आराधना, शुद्ध ज्ञान ही आराध्य है।।
ज्ञानमय ध्रुव रूप मेरा, ज्ञानमय ही परिणमन।
ज्ञानमय ही मुक्ति मम, मैं ज्ञानमय अनादिनिधन।।6।।
ज्ञान ही है सार जग में, शेष सब निस्सार है।
ज्ञान से च्युत परिणमन का, नाम ही संसार है।।
ज्ञानमय निजभाव को बस भूलना अपराध है।
ज्ञान का सम्मान ही, संसिद्धि सम्यक् राध है।।7।।
अज्ञान से ही बंध, सम्यग्ज्ञान से ही मुक्ति है।
ज्ञानमय संसाधना, दुख नाशने की युक्ति है।।
जो विराधक ज्ञान का, सो डूबता मंझधार है।
ज्ञान का आश्रय करे, सो होय भव से पार है।। 8।।
यों जान महिमा ज्ञान की, निज ज्ञान को स्वीकार कर।
ज्ञान के अतिरिक्त सब, परभाव का परिहार कर।।
निजभाव से ही ज्ञानमय हो, परम-आनन्दित रहो।
होय तन्मय ज्ञान में, अब शीघ्र शिव-पदवी धरो।। 9।।

(98) सान्त्वनाष्टक

शान्त चित्त हो निर्विकल्प हो, आत्मन् निज में तृप्त रहो।
व्यग्र न होओ, क्षुब्ध न होओ, चिदानन्द रस सहज पिओ।। टेक।।
स्वयं स्वयं में सर्व वस्तुएँ, सदा परिणमित होती हैं।
इष्ट-अनिष्ट न कोई जग में, व्यर्थ कल्पना झूठी है।।

धीर–वीर हो मोहभाव तज, आतम–अनुभव किया करो।।व्यग्र.।।1।।
देखो प्रभु के ज्ञान माँहि, सब लोकालोक झलकता है।
फिर भी सहज मग्न अपने में, लेश नहीं आकुलता है।।
सच्चे भक्त बनो प्रभुवर के ही पथ का अनुसरण करो।।व्यग्र.।।2।।
देखो मुनिराजों पर भी, कैसे–कैसे उपसर्ग हुए।
धन्य–धन्य वे साधु साहसी, आराधन से नहीं चिगे।।
उनको निज–आदर्श बनाओ, उर में समताभाव धरो।।व्यग्र.।।3।।
व्याकुल होना तो, दुख से बचने का कोई उपाय नहीं।
होगा भारी पाप बंध ही, दुख का होय अपाय नहीं।।
ज्ञानाभ्यास करो मन माँहि, दुर्विकल्प दुखरूप तजो।
व्यग्र न होओ क्षुब्ध न होओ, चिदानन्द रस सहज पियो।।4।।
अपने में सर्वस्व है अपना, परद्रव्यों में लेश नहीं।
हो विमूढ़ पर में ही क्षण–क्षण, करो व्यर्थ संक्लेश नहीं।।
अरे! विकल्प अकिंचित्कर ही, ज्ञाता हो ज्ञाता ही रहो।।व्यग्र.।।5।।
अन्तर्दृष्टि से देखो नित, परमानन्दमय आत्मा।
स्वयंसिद्ध निर्द्वन्द्व निरामय, शुद्ध बुद्ध परमात्मा।।
आकुलता का काम नहीं कुछ, ज्ञानानन्द का वेदन हो।।व्यग्र.।।6।।
सहज तत्त्व की सहज भावना, ही आनन्द प्रदाता है।
जो भावे निश्चय शिव पावे, आवागमन मिटाता है।।
सहजतत्त्व ही सहज ध्येय है, सहजरूप नित ध्यान धरो।।व्यग्र.।।7।।
उत्तम जिन वचनामृत पाया, अनुभव कर स्वीकार करो।
पुरुषार्थी हो स्वाश्रय से इन, विषयों का परिहार करो।।
ब्रह्मभावमय मंगल चर्या, हो निज में ही मग्न रहो ।।व्यग्र.।।8।।

(99) कर्त्तव्याष्टक

आतम हित ही करने योग्य, वीतराग प्रभु भजने योग्य।
सिद्ध स्वरूप ही ध्याने योग्य, गुरु निर्ग्रन्थ ही वंदन योग्य।। 1।।
साधर्मी ही संगति योग्य, ज्ञानी साधक सेवा योग्य।
जिनवाणी ही पढ़ने योग्य, सुनने योग्य समझने योग्य।। 2।।
तत्त्व प्रयोजन निर्णय योग्य, भेद-ज्ञान ही चिन्तन योग्य।
सब व्यवहार हैं जानन योग्य, परमारथ प्रगटावन योग्य।। 3।।
वस्तुस्वरूप विचारन योग्य, निज वैभव अवलोकन योग्य।
चित्स्वरूप ही अनुभव योग्य, निजानंद ही वेदन योग्य।। 4।।
अध्यातम ही समझने योग्य, शुद्धातम ही रमने योग्य।
धर्म अहिंसा धारण योग्य, दुर्विकल्प सब तजने योग्य।। 5।।
श्री जिनधर्म प्रभावन योग्य, ध्रुव आतम ही भावन योग्य।
सकल परीषह सहने योग्य, सर्व कर्म मल दहने योग्य।। 6।।
भव का भ्रमण मिटाने योग्य, क्षपक श्रेणी चढ़ जाने योग्य।
तजो अयोग्य करो अब योग्य, मुक्तिदशा प्रगटाने योग्य।। 7।।
आया अवसर सबविधि योग्य, निमित्त अनेक मिले हैं योग्य।
हो पुरुषार्थ तुम्हारा योग्य, सिद्धि सहज ही होवे योग्य।। 8।।

(100) समता षोडसी

समता रस का पान करो, अनुभव रस का पान करो।
शान्त रहो शान्त रहो, सहज सदा ही शान्त रहो।। टेक।।
नहीं अशान्ति का कुछ कारण, ज्ञान दृष्टि से देख अहो।
क्यों पर लक्ष करे रे! मूरख, तेरे से सब भिन्न अहो।। 1।।

देह भिन्न है कर्म भिन्न हैं, उदय आदि भी भिन्न अहो।
नहीं अधीन हैं तेरे कोई, सब स्वाधीन परिणमित हो।। 2।।
पर नहीं तुझसे कहता कुछ भी, सुख-दुख का कारण नहीं हो।
करके मूढ़ कल्पना मिथ्या, तू ही व्यर्थ आकुलित हो।। 3।।
इष्ट-अनिष्ट न कोई जग में, मात्र ज्ञान के ज्ञेय अहो।
हो निरपेक्ष करो निज अनुभव, बाधक तुमको कोई न हो।। 4।।
तुम स्वभाव से ही आनंदमय, पर से सुख तो लेश न हो।
झूठी आशा तृष्णा छोड़ो, जिन-वचनों में चित्त धरो।। 5।।
पर-द्रव्यों का दोष न देखो, क्रोध-अग्नि में नहीं जलो।
नहीं चाहो अनुकूल प्रवर्तन, भेदज्ञान ध्रुव दृष्टि धरो।। 6।।
जो होता है वह होने दो, होनी को स्वीकार करो।
कर्त्तापन का भाव न लाओ, निज हित का पुरुषार्थ करो।। 7।।
दया करो पहले अपने पर, आराधन से नहीं चिगो।
कुछ विकल्प यदि आवे तो भी, सम्बोधन समतामय हो।। 8।।
यदि माने तो सहज योग्यता, अहंकार का भाव न हो।
नहीं माने भवितव्य विचारो, जिससे किंचित् खेद न हो।। 9।।
हीनभाव जीवों के लखकर, ग्लानिभाव नहीं मन में हो।
कर्मोदय की अति विचित्रता, समझो स्थितिकरण करो।। 10।।
अरे कलुषता पाप बंध का, कारण लखकर त्याग करो।
आलस छोड़ो बनो उद्यमी, पर सहाय की चाह न हो।। 11।।
पापोदय में चाह व्यर्थ है, नहीं चाहने पर भी हो।
पुण्योदय में चाह व्यर्थ है, सहजपने मन-वांछित हो।। 12।।

आर्तध्यान कर बीज दुःख के, बोना तो अविवेक अहो।
धर्म-ध्यान में चित्त लगाओ, होय निर्जरा बंध न हो।। 13।।
करो नहीं कल्पना असम्भव, अब यथार्थ स्वीकार करो।
उदासीन हो पर भावों से, सम्यक् तत्त्वविचार करो।। 14।।
तजो संग लौकिक जीवों का, भोगों के आधीन न हो।
सुविधाओं की दुविधा त्यागो, एकाकी शिवपंथ चलो।। 15।।
अति दुर्लभ अवसर पाया है, जग प्रपंच में नहीं पड़ो।
करो साधना जैसे भी हो, यह नर भव अब सफल करो।। 16।।

(101) परमार्थ-शरण

अशरण जग में शरण एक शुद्धातम ही भाई।
धरो विवेक हृदय में आशा पर की दुखदाई।। 1।।
सुख-दुख कोई न बाँट सके यह परम सत्य जानो।
कर्मोदय अनुसार अवस्था संयोगी मानो।। 2।।
कर्म न कोई देवे-लेवे प्रत्यक्ष ही देखो।
जन्मे-मरे अकेला चेतन तत्त्वज्ञान लेखो।। 3।।
पापोदय में नहीं सहाय का निमित्त बने कोई।
पुण्योदय में नहीं दण्ड का भी निमित्त होई।। 4।।
इष्ट-अनिष्ट कल्पना त्यागो हर्ष-विषाद तजो।
समता धर महिमामय अपना आतम आप भजो।। 5।।
शाश्वत सुखसागर अन्तर में देखो लहरावे।
दुर्विकल्प में जो उलझे वह लेश न सुख पावे।। 6।।
मत देखो संयोगों को कर्मोदय मत देखो।
मत देखो पर्यायों को गुणभेद नहीं देखो।। 7।।

अहो! देखने योग्य एक ध्रुव ज्ञायक प्रभु देखो।
हो अन्तर्मुख सहज दीखता अपना प्रभु देखो।। 8।।
देखत होऊ निहाल अहो! निज परम प्रभु देखो।
पाया लोकोत्तम जिनशासन आतमप्रभु देखो।। 9।।
निश्चय नित्यानन्दमयी अक्षय पद पाओगे।
दुखमय आवागमन मिटे भगवान कहाओगे।। 10।।

(102) अपनी वैभव गाथा

(मरहठा-माधवी)

आत्मन् अपनी वैभव गाथा, सुनो परम आनन्दमय।
करो प्रमाण स्वानुभूति से, प्रगटाओ सहज सौख्य अक्षय।। टेक।।
स्वयं-सिद्ध सत् रूप प्रभु, नहिं आदि मध्य अवसान है।
तीन लोक चूड़ामणि आतम, प्रभुता सिद्ध समान है।।
सिद्ध प्रभु ज्यों ज्ञाता त्यों ही, तुम ज्ञाता भगवान हो।
करो विकल्प न पूर्ण अपूर्ण का, निर्विकल्प अम्लान हो।।
निश्चय ही परमानन्द विलसे, सर्व दुखों का होवे क्षय।। 1।।
हों संयोग भले ही कितने, संयोगों से भिन्न सदा।
नहीं तजे निजरूप कदाचित्, होवे नहीं पररूप कदा।।
कर्मबंध यद्यपि अनादि से, तदपि रहे निर्बन्ध सदा।
वैभाविक परिणमन होय, फिर भी तो है निर्द्वन्द्व अहा।।
देखो-देखो द्रव्यदृष्टि से, चित्स्वरूप अनुपम सुखमय।। 2।।
एक-एक शक्ति की महिमा, वचनों में नाहिं आवे।
शक्ति अनंतों उछलें शाश्वत, चिन्तन पार नहीं पावे।।
प्रभु स्वाधीन अखण्ड प्रतापी, अकृत्रिम भगवान अहो।

जो भी ध्यावे शिवपद पावे, ध्रुव परमेष्ठी रूप विभो।।
भ्रम को छोड़ो करो प्रतीति, हो निःशंक निश्चल निर्भय।। 3।।
केवलज्ञान अनंता प्रगटे, ऐसा ज्ञान स्वरूप अहो।
काल अनंत-अनंतसुख विलसे, है अव्ययसुख सिंधु अहो।।
अनंत ज्ञान में भी अनंत ही, निज स्वरूप दर्शाया है।
पूर्णपने तो दिव्यध्वनि में भी, न ध्वनित हो पाया है।।
देखो प्रभुता इक मुहूर्त में, सब कर्मों पर लहे विजय।। 4।।
आत्मज्ञान बिन चक्री इन्द्रादिक भी, तृप्ति नहीं पावें।
सम्यक् ज्ञानी नरकादिक में भी, अपूर्व शान्ति पावें।।
इसीलिये चक्री तीर्थंकर, बाह्य विभूति को तजते।
हो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिवर, चिदानन्द पद में रमते।।
धन्य-धन्य वे ज्ञानी ध्यावें, समयसार निज समय-समय।। 5।।
चक्रवर्ती की नवनिधियाँ, पर निज निधियों का पार नहीं।
चौदह रत्न चक्रवर्ती के, आतम गुण भण्डार सही।।
चक्रवर्ती का वैभव नश्वर, आत्म-विभूति अविनाशी।
जो पावे सो होय अयाची, कट जाये आशापाशी।।
झूठी दैन्य निराशा तजकर, पाओ वैभव मंगलमय।। 6।।
चंचल विपुल विकल्पों को तो, एक स्फुलिंग ही नाशे।
आतम तेजपुञ्ज सर्वोत्तम, कौन मुमुक्षु न अभिलाषे?
चिंतामणि तो पुण्य प्रमाणे, जग इच्छाओं को पूरे।
धन्य-धन्य चेतन चिंतामणि, क्षण में वांछाएँ चूरे।।
निर्वांछक हो अहो अनुभवो, अविनश्वर कल्याणमय।। 7।।

जिनधर्मों की पूजा करते, उनका धर्मी शुद्धातम।
परमपूज्य जानो पहिचानो, शुद्ध चिदम्बर परमातम।।
परमपारिणामिक ध्रुवज्ञायक, लोकोत्तम अनुपम अभिराम।
नित्यनिरंजन परमज्योतिमय, परमब्रह्म अविचल गुणधाम।।
करो प्रतीति अनुभव परिणति, निज में ही हो जाय विलय।। 8।।
गुरु की गुरुता, प्रभु की प्रभुता, आत्माश्रय से ही प्रगटे।
भव-भव के दुखदायी बंधन, स्वाश्रय से क्षण में विघटे।।
आत्मध्यान ही उत्तम औषधि, भव का रोग मिटाने को।
आत्मध्यान ही एक मात्र साधन है, शिवसुख पाने को।।
झूठे अहंकार को छोड़ो, शुद्धातम की करो विनय।। 9।।
रुचि न लगे यदि कहीं तुम्हारी, एक बार निज को देखो।
खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु से, निज महिमा को देखो।।
भ्रांति मिटेगी, शांति मिलेगी, सहज प्रतीति आयेगी।
समाधान निज में ही होगा, आकुलता मिट जायेगी।।
चूक न जाना स्वर्णिम अवसर, करो निजातम का निश्चय।। 10।।

(103) शुद्धात्म-आराधना

आराधना की शुभ घड़ी यह भाग्य से पायी।
आराधना शुद्धात्मा की ही मुझे भायी।। टेक।।
करके विराधन तत्त्व का बहु क्लेश हैं पाये।
सौभाग्य से नरभव मिला जिननाथ ढिंग आये।।
वाणी सुनी जिनराज की कुछ होश हुआ है।

उपयोग निर्णय में लगा अवबोध हुआ है।।
जागा विवेक अंतरंग में जागृति आयी।
आराधना शुद्धात्मा की ही मुझे भायी।। 1।।
शुद्धात्मा अपना परम आदेय है भासा।
मंगलस्वरूप चित्स्वरूप सहज प्रतिभासा।।
संयोग देह कर्म आदि भिन्न लखाये।
मोहादि सब दुर्भाव दुःख के हेतु दिखाये।।
आह्लादमयी आत्मानुभूति आज है आयी।। आराधना...।। 2।।
निर्भ्रान्त हूँ, निःशंक हूँ, शुद्धात्मा प्रभु हूँ।
स्वभाव से ही ज्ञान आनन्दमय सदा विभु हूँ।।
सत्रूप अहेतुक नहीं जन्में नहीं मरता।
सामर्थ्य से अपनी सदा ही परिणमन करता।।
समझा स्वरूप स्वावलम्बी वृत्ति जगायी।। आराधना...।। 3।।
स्वाधीन अखण्ड प्रतापवान है प्रभु सदा।
निर्बन्ध है पर से नहीं सम्बन्ध हो कदा।।
पर से नहीं आता कभी कुछ भ्रान्ति मिट गयी।
निज में ही निज की पूर्णता स्वयमेव दिख गयी।।
स्वाश्रय से पराश्रय की बुद्धि सहज नशायी।।आराधना...।। 4।।
रे! अग्नि में से शीतता आती नहीं जैसे।
और अग्नि भी घृत से नहीं बुझती कभी जैसे।।
त्यों इन्द्रिय भोगों से नहीं होता सुखी कभी।
अरु कार्य भी विकल्प से होता नहीं कभी।।
परभावों की असारता प्रत्यक्ष दिखायी।। 5।।

जीवन का ठिकाना नहीं, संयोग हैं अशरण।
परमार्थ से देखें तो मात्र आत्मा शरण।।
आत्मा का विस्मरण ही है संसार का कारक।
आत्मा का अनुभवन ही सर्वक्लेश निवारक।।
जिनदेव की यह देशना आनन्द प्रदायी।। आराधना...।। 6।।
चिन्ता चिता से भी अधिक है घात का कारण।
चिन्ता से कभी होता नहीं कष्ट निवारण।।
चिन्ता को छोड़ तत्त्व का चिन्तन सहज करूँ।
अनुकूल अरु प्रतिकूल में समता सदा धरूँ।।
निरपेक्ष भावना हृदय में आज है आयी।। आराधना...।। 7।।
होती न अनहोनी कभी होनी नहीं टलती।
सुख शान्ति तो आराधना से ही सदा मिलती।।
शिवमार्ग के साधक कभी कुछ भार नहिं लेते।
ज्ञाता स्वयं में तृप्त नित निर्भार ही रहते।।
निर्मुक्त होने की यह युक्ति आज सुहायी।। आराधना...।। 8।।
भवितव्य को स्वीकार कर निश्चिंत रहूँगा।
तजकर पराई आश अब निरपेक्ष रहूँगा।।
संयोगों की चिन्ता में दुःख के बीज नहीं बोऊँ।
फँसकर विकल्पों में नहीं यह शुभ समय खोऊँ।।
वस्तु स्वरूप जानकर दृढ़ता सहज आयी।। आराधना...।। 9।।
लौकिक जनों की चर्चायें अब मैं न सुनूँगा।
मोही जनों के आँसुओं पर ध्यान नहीं दूँगा।।
मिथ्या भविष्य की भी चिन्ता अब न करूँगा।

मानापमान में भी मैं तो सहज रहूँगा।।
अब भेदज्ञान की कला अन्तर में प्रगटाई।
आराधना शुद्धात्मा की ही मुझे भायी।। 10।।
करके स्वांग हितैषी का नहीं मुझको बहकाओ।
देकर प्रलोभन अथवा भय न मुझको फँसाओ।।
तजकर तुम मिथ्या मोह कुछ विवेक जगाओ।
होकर आनन्दित संयम की अनुमोदना लाओ।।
संयम की अमृतधारा तो सभी को सुखदायी।। आराधना... ।। 11।।
सुनकर विरागमय वचन आनन्द छा गया।
दुर्मोह का वातावरण सब दूर हो गया।।
आसन्न भव्य भी सहज ही साथ चल दिए।
निर्ग्रन्थता के मार्ग का संकल्प शुभ किए।।
धनि-धनि कहें जयवंत हो जिनधर्म सुखदायी।। आराधना. ।। 12।।

(104) शुद्धात्म-चिन्तवन

(दोहा)

सहज शुद्ध ज्ञायक अमल, नित्यमुक्त भगवान।
शोभित निज अनुभूति युत, परमानन्दमय जान।। 1।।

(चौपाई)

जय-जय चिदानन्द भगवान, ध्येयरूप ध्याऊँ अम्लान।
जय-जय सहज चतुष्टयवन्त, शाश्वत प्रभु अंतर विलसंत।। 2।।
निष्कलंक निर्द्वन्द्व स्वरूप, निर्विकल्प चिद्रूप अनूप।
विन्मूरति चिन्मूरति आप, जाकी धुन में पुण्य न पाप।। 3।।

जय-जय परम धरम दातार, जय-जय बंध विनाशनहार।
मुक्तिदशा प्रगटावनहार, सहज अकर्ता जाननहार।।4।।
ग्रहण-त्याग का जहाँ न काम, सहज पूर्ण नित आतमराम।
जय-जय परमब्रह्म निष्काम, प्रगटे ब्रह्मचर्य सुखधाम।। 5।।
आधि-व्याधि-उपाधि विहीन, सहज समाधि स्वरूप प्रवीन।
शाश्वत तीर्थरूप अविकार, सहजपने ही तारणहार।। 6।।
अनन्तज्ञान में भी सु अनन्त, महिमा का दीखे नहिं अन्त।
दर्शन तैं उपजे आनन्द, प्रभु अविनाशी अमृतचन्द्र।। 7।।
ज्ञान सुधारस पिये जु कोय, अजर अमर पद पावे सोय।
नित्य निरंजन परम पवित्र, स्वानुभव गोचर सहज विचित्र।।8।।
लोकोत्तम ध्रुव मंगल रूप, अनन्य शरण आराध्य स्वरूप।
जय जय सहज तृप्त निर्दोष, गुण अनन्तमय माणिक कोष।।9।।
यद्यपि कर्म संयोग अनादि, हो रागादिक हर्ष-विषाद।
भ्रमता फिरे चतुर्गति माँहि, लहे एक क्षण साता नाहिं।। 10।।
वर्ते तदपि सदा निर्बन्ध, सहज ज्ञानमय ज्योति अमंद।
निष्कल निर्विकार अभिराम, ज्ञायक तो ज्ञायक ही जान।। 11।।
नाहीं उपजे नाहीं विनशे, बंध मुक्ति को कदा न परसे।
भिन्न सदैव रहें ये स्वाँग, एकरूप नित आतमराम।। 12।।
परम पारिणामिक अविकार, धीर-वीर-गम्भीर उदार।
स्वयंसिद्ध शाश्वत परमात्म, अद्भुत प्रभुतामय शुद्धात्म।। 13।।
द्रव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष देख, उपज्यो उर आनन्द विशेष।
मिटी भ्रान्ति प्रगटी सुख शान्ति, निज में ही पाई विश्रान्ति।। 14।।

मिथ्या कर्तृत्व भाव पलाय, राग-द्वेष सब गये विलाय।
सहजहिं जाननहार जनाय, अद्‌भुत चिद्विलास विलसाय।। 15।।

स्वतः स्वयं में तृप्त हूँ, विनशें सर्व विभाव।
रहूँ सहज निर्ग्रन्थ नित, भाऊँ शुद्ध स्वभाव।।

(105) नित्य-भावना

मैं एक ज्ञायकभाव भाऊँ, अन्य वांछा कुछ नहीं।
अनुभूति ज्ञायकभावमय, वर्ते सुकाल अनन्त ही।। 1।।
सविकल्पता में हे प्रभो, पुरुषार्थ ऐसा ही करूँ।
चैतन्य प्राप्ति का निमित्त, अरहंत का दर्शन करूँ।। 2।।
चिन्तन सुसिद्ध स्वरूप का, कर भेदज्ञान हृदय धरूँ।
निष्कर्म ध्रुव अरु अचल अनुपम, स्वयं सिद्धस्वरूप हूँ।। 3।।
कर वंदना आचार्य की, नित द्रव्य एवं भाव से।
निर्ग्रन्थ दीक्षा की अहो! हो भावना अतिचाव से।। 4।।
उपाध्याय गुरुवर के समीप, सुज्ञान का अभ्यास हो।
संतुष्टि हो आराधना में, नहीं पर की आस हो।।5।।
हो साधुजन की संगति अरु, असंगपद की दृष्टि हो।
जग से उदासी हो सहज, वैराग्यमय मम सृष्टि हो।। 6।।
जिन चैत्य-चैत्यालय अकृत्रिम, कृत्रिम भी अति भा रहे।
अशरण जगत में शरण सुखमय, ये ही प्रभु दर्शा रहे।। 7।।
जग में न कोई दूसरी, जिनवाणी माँ व्यवहार है।
इस दुःषम भीषण काल में, जिनवाणी ही आधार है।। 8।।

जिनधर्म ही सत्यार्थ भासे, सहज वस्तु स्वभाव है।
जो है अहिंसा रूप जिसमें, नहिं विराधक भाव है।। 9।।
है मूल सम्यक्दर्श जिसका, ज्ञानमय जो धर्म है।
अवकाश नहिं है रूढ़ियों का, साम्य जिसका मर्म है।। 10।।
लक्षण कहे दश धर्म के, सब ही को मंगलरूप है।
व्याधि-उपाधि नहीं जिनमें, सहज आत्मस्वरूप है।। 11।।
इस धर्म की ही हो सदा, जगमाँहि परम प्रभावना।
स्वप्न में भी हो नहीं, किंचित् कभी दुर्भावना।। 12।।
मैत्री रहे सब प्राणियों से, गुणीजनों में मोद हो।
दीन-दुःखियों पर दया, विपरीत पर नहीं क्षोभ हो।। 13।।
संवेग अरु वैराग्य वृद्धिंगत सदा होते रहें।
उर-भूमि में नित धर्म के ही, बीज शुभ बोते रहें।। 14।।
हो धर्मपर्वों प्रति सहज, उत्साह अन्तर में सदा।
समभाव मंगलमय रहे कुछ, पाप नहीं लागे कदा।। 15।।
मूर्छा न हो परभाव में, एकान्त का सेवन करूँ।
नित तीर्थक्षेत्रों में अहो! आनन्द का वेदन करूँ।। 16।।
निरपेक्ष हो स्वाधीन हो, मम वृत्ति हो चिद् ब्रह्ममय।
हो ब्रह्मचर्य परमार्थ पूर्ण, स्वपद लहूँ अक्षय अभय।। 17।।

(106) आत्म-भावना

(तर्ज-मेरी भावना)

निजस्वभाव में लीन हुए, तब वीतराग सर्वज्ञ हुए।
भव्य भाग्य अरु कुछ नियोग से, जिनके वचन प्रसिद्ध हुए।। 1।।
मुक्तिमार्ग मिला भव्यों को, वे भी बंधन मुक्त रहें।
उनमें निजस्वभाव दर्शकता, देख भक्ति से विनत रहें।। 2।।
वीतराग सर्वज्ञ ध्वनित जो, सप्त तत्त्व परकाशक है।
अविरोधी जो न्याय तर्क से, मिथ्यामति का नाशक है।। 3।।
नहीं उल्लंघ सके प्रतिवादी, धर्म अहिंसा है जिसमें।
आत्मोन्नति की मार्ग विधायक, जिनवाणी हम नित्य नमें।। 4।।
विषय-कषाय-आरम्भ न जिनके, रत्नत्रय निधि रखते हैं।
मुख्य रूप से निज स्वभाव, साधन में तत्पर रहते हैं।। 5।।
अट्ठाईस मूलगुण जिनके, सहजरूप से पलते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु गुरु का, हम अभिनन्दन करते हैं।। 6।।
उन सम निज का हो अवलम्बन, उनका ही अनुकरण करूँ।
उन्हीं जैसी परिचर्या से, आत्मभाव को प्रकट करूँ।। 7।।
अष्ट मूलगुण सम्यक् हों, अन्याय-अभक्ष्य-अनीति न हो ।
व्यसन पाप का नाम नहीं हो, जीवन पूर्ण प्रमाणिक हो।। 8।।
सदा करूँ स्वाध्याय तत्त्वनिर्णय सामायिक आराधन।
विनय युक्ति और ज्ञान दान से, राग घटाऊँ मैं पावन।। 9।।
जितनी मंद कषाय होय, उसका न करूँ अभिमान कभी।
लक्ष्य पूर्णता का अपनाकर, सहूँ परीषह दुःख सभी।। 10।।

गुणीजनों पर हो श्रद्धा, व्यवहार और निश्चय सेवा।
उनकी करें दुःखी प्रति करुणा, हमको होवे सुख देवा।। 11।।
शत्रु न जग में दीखे कोई, उन पर भी नहिं क्षोभ करूँ।
यदि संभव हो किसी युक्ति से, उनमें भी सद्ज्ञान भरूँ।। 12।।
राग नहीं हो लक्ष्मी का, ना लोकजनों की किंचित् लाज।
प्रभु वचनों से जो प्रशस्त पथ, उसमें ही होवे अनुराग।। 13।।
होय प्रशंसा अथवा निंदा कितने हों उपसर्ग कदा।
उन पर दृष्टि भी नहिं जावे, परिणति में हो साम्य सदा।। 14।।
होवे मौत अभी ही चाहे, कभी न पथ से विचलित हो।
इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग में, सदा मेरु से अचलित हो।। 15।।
चाह नहीं हो परद्रव्यों की, विषयों की तृष्णा जावे।
क्षण-क्षण चिन्तन रहे तत्त्व का, खोटे भाव नहीं आवें।। 16।।
समय-समय निज अनुभव होवे, आतम में थिरता आवे।
सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरण से, शिवसुख स्वयं निकट आवे।। 17।।
प्रगट होय निर्ग्रन्थ अवस्था, निश्चय आतम-ध्यान धरूँ।
स्वाभाविक आतम गुण प्रगटें, सकल कर्ममल नाश करूँ।। 18।।
होवे अन्त भावनाओं का, यही भावना भाता हूँ।
भेद-दृष्टि के सब विकल्प तज, निज स्वभाव में रहता हूँ।। 19।।

(दोहा)

सुखमय आत्मस्वभाव है, ज्ञाता-दृष्टा ग्राह्य।
लीन आत्मा में रहे, स्वयं सिद्ध पद पाय।। 20।।

(107) सम्बोधनाष्टक

झूठे सर्व विकल्प, शरण है एक ही शुद्धातम।
निर्विकल्प आनन्दमयी, प्रभु शाश्वत परमातम।। 1।।
है अत्यन्ताभाव सदा फिर, कोई क्या कर सकता।
व्यर्थ विकल्पों से उपजी, क्या पीड़ा हर सकता।।2।।
द्रव्यदृष्टि से देखो तुम तो सदाकाल सुखरूप।
परभावों से शून्य सहज, चिन्मात्र चिदानन्द रूप।।3।।
नहीं सूर्य में अंधकार त्यों, दु:ख नहिं ज्ञायक में।
दु:ख का ज्ञाता कहो भले, पर ज्ञायक नहीं दु:ख में।। 4।।
ज्ञायक तो ज्ञायक में रहता, ज्ञायक ज्ञायक ही।
गल्प नहीं यह परम सत्य है, अनुभव योग्य यही।। 5।।
भूल स्वयं को व्यर्थ, आकुलित हुए फिरो भव में।
जानो जाननहार स्वयं, आनन्द प्रगटे निज में।।6।।
हुआ न होगा कोई सहाई, झूठी आस तजो।
नहीं जरूरत भी तुमको अब, अपनी ओर लखो।। 7।।
पूर्ण स्वयं में तृप्त स्वयं में, आप ही आप प्रभो।
सहज मुक्त हो, स्वयं सिद्ध हो, जाननहार रहो।।8।।

(108) सम्बोधन-सप्तक

पर लक्ष्य तजो, निज तत्त्व भजो, आत्मन् निज में ही शांति मिले।
जग का परिणमन स्वतंत्र अरे, तेरा विकल्प तहाँ नहीं चले।। टेक।।
पर चिंता में क्यों मूढ़ बना? यह स्वर्णिम अवसर खोता है।
क्रमबद्ध सभी परिणमन सदा, जो होना है सो होता है।।
स्वयमेव पंचसमवाय मिले, होनी टाले से नहीं टले।। 1।।

सीता अनुकूल बनाने में, रावण ने क्या-क्या नहीं किया।
पर सीता नहीं अनुकूल हुई, अपयश से मर कर नरक गया।।
मिल गया धूल में सब वैभव, अभिमान किसी का नहीं चले।।2।।
फिर जो सब जग को ही अपने, अनुकूल बनाने की ठाने।
कैसे सुख शांति मिल सकती, झूठा कर्त्तापन यदि माने।।
धर भेदज्ञान निरपेक्ष रहो, समता से सर्व विभाव टले।। 3।।
प्रभु की भी तूने नहीं मानी, तो जग कैसे तेरी माने।
तज दुर्विकल्प हो निर्विकल्प, आराधन का उद्यम ठाने।।
हो जीवन सफल सु आत्मध्यान से, सहजहिं कर्मकलंक जले।।4।।
यद्यपि विकल्प ज्ञानी को भी हो, जीव धर्म में लग जावें।
तब सहज होय उपदेश, शास्त्र रचना आदिक भी हो जावे।।
पर लेश नहीं कर्त्तृत्व उन्हें, अंतर में भेद-विज्ञान चले।। 5।।
अनुसरण योग्य ज्ञानी का भी, बस वीतराग-विज्ञान अहो।
हो धन्य घड़ी परमानन्दमय, निज में ही सहज मग्नता हो।।
ज्ञायक हो ज्ञायक सहज रहो, सम्यक् संयम सुखरूप पले।। 6।।
शुभभाव भूमिकायोग्य सहज ही, परिणति में आ जाता है।
ये भी परिवार मोह का ही, संतोष न इनमें आता है।।
स्वाश्रय से ही पुरुषार्थ बढ़े, फिर निजानन्द में लीन रहें।। 7।।

(109) अपना स्वरूप

रे जीव ! तू अपना स्वरूप देख तो जरा।
दृग-ज्ञान-सुख-वीर्य का भण्डार है भरा।। टेक।।
नहिं जन्मता मरता नहीं, शाश्वत प्रभु कहा।
उत्पाद-व्यय होते हुये भी ध्रौव्य ही रहा।। 1।।

पर से नहीं लेता, नहीं देता तनिक पर को।
निरपेक्ष है पर से स्वयं में पूर्ण ही अहा।। 2।।
कर्त्ता नहीं भोक्ता नहीं, स्वामी नहीं पर का।
अत्यंताभाव रूप से, ज्ञायक ही प्रभु सदा।। 3।।
पर को नहीं मेरी कभी, मुझको नहीं पर की।
जरूरत पड़े सब परिणमन स्वतंत्र ही अहा।। 4।।
पर दृष्टि झूठी छोड़कर, निज दृष्टि तू करे।
निज में ही मग्न होय, तो आनन्द हो महा।। 5।।
बस मुक्तिमार्ग है यही, निज दृष्टि अनुभवन।
निज में ही होवे लीनता, शिव पद स्वयं लहा।। 6।।
'आत्मन्' कहूँ महिमा कहाँ तक, आत्म भाव की।
जिससे बने परमात्मा, शुद्धात्म वह कहा।। 7।।

(110) जिनधर्म

जिनधरम ही भ्रमभूल नाशक, अहो! मंगल जगत में।
जिनधरम ही शिवपथ प्रकाशक, अहो! उत्तम जगत में।। 1।।
सम्यक् अहिंसामय धरम ही, शरणभूत सु जानियो।
निजभाव भासक कर्म नाशक, जिनधरम पहिचानियो।। 2।।
रत्नत्रयमय यह धरम, उत्तम क्षमादि स्वरूप है।
निरपेक्ष पर से सहज स्वाश्रित, परम आनन्दरूप है।। 3।।
जिनधर्म धारे तृप्ति हो, निज माँहि निज से सहज ही।
निर्वृत्त आस्रव से सहज, विज्ञानघन हो सहज ही।। 4।।
भवताप नाशे गुण प्रकाशे, मुक्ति पद दातार है।
स्वानुभवमय जिनधरम ही, सर्व मंगलकार है।। 5।।

महाभाग्य सु पाइयो मैंने अलौकिक जिनधरम।
निशंक हो निर्ग्रन्थ हो, प्रभुवर प्रभावूँ जिनधरम।। 6।।
भो! सुखार्थी सहज समझो, तत्त्व मंगलमय अहो।
भो! मुमुक्षु सहज धारो, धर्म मंगलमय अहो।। 7।।
स्वार्थमय संसार में, निज स्वार्थसिद्धि सु कीजिए।
मध्यस्थ हो चारित्र गहो, परभाव सब तज दीजिए।। 8।।
नहीं चूक जाना मोहवश, अवसर मिला दुर्लभ अहो।
निजभाव की आराधना से है, सुलभ निजपद अहो।। 9।।

(111) अपूर्व कार्य करूँगा

नरभव मिला है, मैं अपूर्व कार्य करूँगा।
पाया जिनशासन, अब भव का अभाव करूँगा।।
है मेरा निश्चय, है सम्यक् निश्चय।।नरभव..।। 1।।
मिथ्यात्व वश अनादि काल से ही रुल रहा।
गति-गति में खाते ठोकरें, मैं अब तो थक गया।।
जिनदर्शन से निजदर्शन करके मोह तजूँगा।।नरभव..।। 2।।
भव से रहित भगवान, अंतर माँहि दिखाया।
भगवान होने का सहज, विश्वास जगाया।।
निज के आनंद में ही, निज से तृप्त रहूँगा।।नरभव..।। 3।।
इन्द्रिय सुखों की कामना अब है नहीं मन में।
उपसर्गों की परवाह नहीं जाकर बसूँ वन में।।
निर्द्वन्द्व हूँ स्वभाव से निर्द्वन्द्व रहूँगा।
नरभव मिला है, मैं अपूर्व कार्य करूँगा।। 4।।

देहादि से अति भिन्न हूँ न्यारा विभाव से।
एकाकी शुद्ध निर्मम हूँ, ज्ञायक स्वभाव में।।
स्वाधीन निर्भय एकाकी अतितृप्त रहूँगा।।नरभव..।। 5।।
चैतन्य की अद्‌भुत शोभा ही भाई है मुझे।
अक्षय विभूति सिद्ध सम सुहाई है मुझे।।
झूठे प्रपंचों में फँस कर दुख अब न सहूँगा।।नरभव..।। 6।।
रे कर्म अपने ठाठ तू दिखाता है किसे।
प्रतिकूलताओं का भी भय बताता है किसे।।
निरपेक्ष ज्ञाता रूप हूँ ज्ञाता ही रहूँगा।।नरभव..।। 7।।
निज के लिये निज में भरा है सुख अतीन्द्रिय।
भोगूँ अनंतकाल वर्तूंगा सुजितेंद्रिय।।
है द्वार मुक्ति का मिला अब मैं न रुलूँगा।।नरभव..।। 8।।
जिनको अनंतों बार भोग-भोग कर छोड़ा।
हैं वे ही भोग, नहीं नवीन, चित्त है मोड़ा।।
अज्ञान वश उच्छिष्ट भोगी अब न बनूँगा।।नरभव..।। 9।।
दुख के पहाड़ बाह्य की प्रवृत्ति मार्ग में।
आनन्द की हिलोरें हैं निवृत्ति मार्ग में।।
उल्लास से निवृत्ति के मारग में बढ़ूँगा।।नरभव..।। 10।।
इस मार्ग में कुछ पाप तो होते ही नहीं हैं।
रे पूर्व बंध भी सहज खिरते ही सही हैं।।
कैसे कहो फिर दुख की कल्पना भी करूँगा।।नरभव..।। 11।।

निंदा करें वे ही जिन्हें कुछ ज्ञान नहीं है।
अनुमोदना करते जिन्हें निज ज्ञान सही है।।
कुछ हर्ष या विषाद अब मन में ना धरूँगा।
नरभव मिला है, मैं अपूर्व कार्य करूँगा।। 12।।
असहाय परिणमन है सर्व द्रव्यों का सदा।
वाँछा सहाय की नहीं मन में भी हो कदा।।
विश्वास निजाश्रय से ही शिवपद भी लहूँगा।।नरभव.. 13।।
स्वभाव से निर्मुक्त हूँ स्वीकार है हुआ।
स्वभाव के सन्मुख सहज पुरुषार्थ है हुआ।।
ध्याऊँ सहज शुद्धात्मा सन्तुष्ट रहूँगा।।नरभव..।। 14।।
भवितव्य भली काललब्धि आई है अहो।
निमित्त भी मिले मिलेंगे योग्य ही अहो।।
हर हाल में आराधना में थिर ही रहूँगा।।नरभव..।। 15।।
विघ्नों के भय से मूढ़ ही निज लक्ष्य नहीं भजते।
विघ्नों के आने पर भी धीर मार्ग नहीं तजते।।
निश्चिंत निराकुल हुआ निज साध्य लहूँगा।।नरभव..।। 16।।
सब जीवों के प्रति मेरे सहज क्षमाभाव है।
करना क्षमा, मुझको, क्षमा आतम स्वभाव है।।
त्यागा है मोह, राग-आग में न जलूँगा।।नरभव..।। 17।।
पाया है ऐसा मार्ग जिसके बाद मार्ग ना।
पाऊँगा ऐसा सुख जिसके बाद दुःख ना।।
जिसका न हो अभाव वह प्रभुत्व लहूँगा।।नरभव..।। 18।।

पाया स्वरूप झूठे स्वांग अब नहीं धरूँ।
चैतन्य महल है मिला भव में नहीं भ्रमूँ।।
दारिद्र फिर जिसमें न हो वह वैभव लहूँगा।।नरभव.. ।। 19 ।।
संयोगों को मैंने वरण कीना अनंत बार।
वियोग के दुख के जहाँ टूटे सदा पहार।।
निश्चय किया अतएव ध्रुव स्वभाव वरूँगा।
नरभव मिला है, मैं अपूर्व कार्य करूँगा।। 20 ।।
तज करके मोह देखो यह आनंदमय है मार्ग।
निशंक हो आओ यही आनंदमय है मार्ग।।
आनंदमय जिनमार्ग का प्रभाव करूँगा।।नरभव.. 21 ।।
इस मार्ग से ही पाया है भगवंत ने भव अंत।
इस मार्ग में विचरें अभी भी ज्ञानी साधु संत।।
उनका ही अनुशरण कर निजानुभव करूँगा।।नरभव.. ।। 22 ।।
चिंता नहीं विभावों की नसेंगे वे स्वयं।
निर्ग्रंथ हो निज भाव में ही रमण हो स्वयं।।
होता हुआ शिव होगा, सहज ज्ञाता रहूँगा।।नरभव.. ।। 23 ।।

(112) निर्मुक्ति-भावना

जिनधर्म पाया है, परम निर्मुक्त रहूँगा।
निर्मुक्त हूँ स्वभाव से, निर्मुक्त रहूँगा।। टेक।।
परभावों से अति भिन्न है, शुद्धात्मा अपना।
निज वैभव से आपूर्ण है, ध्रुव आत्मा अपना।।
हो निर्विकल्प आत्मा हूँ अनुभव करूँगा।। जिनधर्म... ।। 1 ।।

जब देह ही अपनी नहीं, परिवार फिर कैसा?
कर्त्तृत्व ही पर का नहीं, फिर भार हो कैसा?
निर्भार ज्ञातारूप हूँ ज्ञाता ही रहूँगा।
जिनधर्म पाया है परम निर्मुक्त बनूँगा।।
निर्मुक्त हूँ स्वभाव से निर्मुक्त रहूँगा।।2।।
स्वामित्व कुछ पर का नहीं, सम्बन्ध नहीं पर से।
निर्बन्ध एक शुद्ध हूँ, नहीं बन्ध हो पर से।।
निज शान्त रस को वेदता निर्द्वन्द्व रहूँगा।। जिनधर्म... ।।3।।
विपरीतता या न्यूनता नहिं निज स्वभाव में।
पर की अपेक्षा है नहीं, आतम स्वभाव में।।
हो निर्मोही सम्यक्त्वादिक से पुष्ट रहूँगा।। जिनधर्म... ।।4।।
है रूप निज एकत्व-विभक्त सहज जाना।
भोगों से अति निरपेक्ष निज स्वाधीन सुख माना।।
नहीं चाह कुछ पर की रही निष्काम रहूँगा।।जिनधर्म..।।5।।
अक्षय विभव निज का परम उत्कृष्ट है देखा।
अब तो लगे जग का सभी मिथ्या असत् लेखा।।
निर्ग्रन्थ पद भाता हुआ निर्ग्रन्थ रहूँगा।। जिनधर्म... ।। 6।।
शक्ति अनन्त देखते सन्तुष्ट हो गया।
प्रभुता अलौकिक देखते अति तृप्त हो गया।।
नहिं और कुछ सुहाय निज में मग्न रहूँगा।। जिनधर्म... ।।7।।
उत्साह निवृत्त हो गया पर जानने का भी।
फिर भाव कैसे आयेगा दुर्भोगों का सही।।
निशल्य शान्त चित्त हुआ निकलंक रहूँगा।। जिनधर्म... ।।8।।

शुभभाव रूप ब्रह्मचर्य में तोष नहिं आवे।
परमार्थता परिपूर्णता को चित्त ललचावे।।
निजब्रह्म पाया है परम ब्रह्मचर्य धरूँगा।। जिनधर्म... ।। 9।।
कुछ भय नहीं शंका नहीं भगवान हैं पाये।
ज्ञानी गुरु पाकर परम आनन्द विलसाये।।
जिनवाणी सी माता पाई भव में ना भ्रमूँगा।। जिनधर्म... ।। 10।।
सब कर्मफल सन्यास की अब भावना भाऊँ।
निष्कर्म ज्ञायकभाव में ही सहज रम जाऊँ।।
बोधिसमाधि को पाकर निज साध्य लहूँगा।। जिनधर्म... ।। 11।।

(113) स्वाधीन मार्ग

स्वाधीनता का मार्ग तो निर्ग्रन्थ मार्ग है।
आराधना का मार्ग ही स्वाधीन मार्ग है।। टेक।।
स्वाधीनता पर से नहीं स्व से सदा आती।
निज में ही तृप्त परिणति स्वाधीन हो जाती।।
संतुष्ट है निज में अहो स्वाधीन है वह ही।
इच्छाओं के वशवर्ती भोगाधीन है वह ही।।
जो भोगों का है दास वह सब जग का दास है।
जो भोगों से उदास प्रभुता उसके पास है।।
भोगों से सुख की कल्पना संसारमार्ग है।। स्वाधीनता... ।।
प्रभु वीतरागी का अहो! स्वाधीन नाम है।
रागादि ही जिसके नहीं पर से क्या काम है।।
मुनिराज हैं स्वाधीन बाह्य साधन के बिना।

एकाकी जंगल में विचरते आकुलता बिना।।
देखो सुरक्षा का नहीं कुछ भी वहाँ साधन।
फिर भी निर्भय रह कर करें शुद्धातम आराधन।।
स्वाधीनता का मार्ग तो निर्ग्रन्थ मार्ग है।।
धन के बिना निर्धन अरे अधीन सा दीखे।
तृष्णा के वशवर्ती धनवान भी दुःखी दीखे।।
भोगों को पाने के लिए मूरख रहे रोता।
पर भोगों को पाकर भी कौन तृप्त है होता?
ज्यों-ज्यों भोगे त्यों-त्यों तृष्णा ही बढ़ती है भाई।
अग्नि की ईंधन से तृप्ति किसने है कर पाई?
निवृत्ति का ही मार्ग भवि स्वाधीन मार्ग है।। स्वाधीनता...।।
गोरखधन्धे की इक कड़ी को हाथ लगावे।
फिर सुलझाना मुश्किल उलझता चक्र ही जावे।।
त्यों ही समस्यायें अनन्त जीवन है थोड़ा।
सुलझाने की आकुलता में जीवन होवे पूरा।।
संक्लेश से मर कर अरे दुर्गति ही पाता है।
सारा विकल्प उसका देखो व्यर्थ जाता है।।
मुक्ति का मार्ग तो अरे अन्तर का मार्ग है।।स्वाधीनता...।।
जैसे वाँसों के वृक्षों से छाया नहीं मिलती।
स्त्री-पुत्रादिक से सुख की त्यों कल्पना झूठी।।
कितने खोजे देखो भौतिक विज्ञान ने साधन।
पर हो सके उनसे कभी क्या शान्ति का वेदन।।

बाहर की दुनियाँ में नहीं भवि होड़ लगाओ।
समझो चेतो आराधना के मार्ग में आओ।।
जिनमार्ग ही कल्याण का सत्यार्थ मार्ग है।
स्वाधीनता का मार्ग तो निर्ग्रन्थ मार्ग है।।
आत्मन्! निराशा अन्त में बाहर से मिलेगी।
पछताने पर भी यह घड़ी नहीं हाथ लगेगी।।
पुण्योदय भी क्षणभंगुर है मत लखकर ललचाओ।
पापोदय की प्रतिकूलताओं से न घबराओ।।
दुनियाँ की बातों में आकर नहीं चित्त भ्रमाना।
नित तत्त्वों के अभ्यास में ही मन को लगाना।।
नहीं विवाद का अहो निर्णय का मार्ग है।। स्वाधीनता...।।
है धैर्य ही अवलम्बन और धर्म सहायक।
संयोग तो कोई नहीं विश्वास के लायक।।
खुद ही विचारो सत्-असत् का ज्ञान तुम करो।
है सर्व समाधान कर्ता ज्ञान ही अहो।।
भवरोग की औषधि अरे विवेक मात्र है।
रे! आत्मज्ञानी ही सहज मुक्ति का पात्र है।।
जितेन्द्रियता का मार्ग ही मुक्ति का मार्ग है।।।स्वाधीनता...।।
पहले गये शिव जो उन्हें आदर्श बनाना।
निश्चिंतता के नाम पर परिग्रह न जुटाना।।
ध्रुवफण्ड नहिं ध्रुवदृष्टि ही आदेय तुम जानो।
निर्वांछकता सम्यक्त्वी साधक का सुगुण मानो।।
जीवराज का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना।

इस मार्ग से ही एक दिन भवसिन्धु हो तरना।।
रत्नत्रय मार्ग ही अहो परमार्थ मार्ग है।। स्वाधीनता...।।
करके विराधन संयम का अति दुःख सहोगे।
संयम का साधन करके ही आनन्द लहोगे।।
आनन्द का अवसर मिला है चूक मत जाना।
रे! स्वप्न में भी भोगों का कुछ भाव नहीं लाना।।
औदयिक भाव आ जावें तो प्रायश्चित करना।
डरना नहीं पुरुषार्थ से आगे सदा बढ़ना।।
निःशंकता से शोभित ध्रुव कल्याण मार्ग है।। स्वाधीनता...।।
कोई सहारा है नहीं यों सोच मत लाना।
'**चत्तारि शरणं**' पाठ पढ़ निज की शरण आना।।
जिन भावना भाते हुए वैराग्य बढ़ाओ।
सर्वत्र सुन्दर एक की ही भावना भाओ।।
देखो अहो एकत्व ही है सत्य शिव सुन्दर।
प्रभु पंच भी देखो अहो इक आत्म के अन्दर।।
आत्मानुभव का मार्ग ही शिवपद का मार्ग है।। स्वाधीनता...।।

(114) प्रभावना

जिनशासन की प्रभावना निर्दोष हो स्वामी।
रे ! अन्तर्मन की भावना निर्दोष हो स्वामी।। टेक।।
श्रद्धान हो सम्यक् सहज अभिप्राय निर्मल हो,
आराधनामय साधनामय जीवन निश्छल हो।
जग ख्याति पूजा लाभ की नहीं चाह हो स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
नहीं करके पक्ष निश्चय का स्वच्छन्द हो जीवन,

नहीं पक्षवश व्यवहार के हो ज्ञान-विराधन।
हो मैत्री ज्ञान-विराग की आनन्दमय स्वामी।।
रे ! अन्तर्मन की भावना निर्दोष हो स्वामी।।
पक्षातिक्रान्त समयसार प्राप्त हो सबको,
चैतन्यमय शुद्धात्मा अनुभूत हो सबको।
अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दमय परिणाम हों स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
पर भावों में नहीं कल्पना अच्छे बुरे की हो,
पीवें अतीन्द्रिय ज्ञानरस जिनवर जितेन्द्रिय हों।
इन्द्रिय विषयों से हो विरक्ति स्वभाविक स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
समझें निमित्त अकिंचित्कर हो निरवलम्बी,
निरपेक्ष हों निश्चिंत हों निर्द्वन्द्व स्वस्थ भी।
नित ही रहें निज में ही निज से तृप्त हे स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
नहीं पुण्य-पाप के उदय में हर्ष-खेद हो,
अरि-मित्र निन्दा-स्तुति में कुछ न भेद हो।
हो मोह-क्षोभ-शून्य शुद्ध आचरण स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
नहीं जन्म जयन्ती में ही हम हो जावें मगन,
समझें स्वयं को स्वयं-सिद्ध अनादिनिधन।
निर्लिप्त उदासीन ज्ञातारूप हों स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
मोहीजनों की ममता से नित सावधान हों,
धनि-धनि सिर ऊपर ज्ञानी गुरु विराजमान हों।
उनके अनुशासन में रहकर स्वतंत्र हों स्वामी,।। रे अन्तर्मन...।।
अबद्धस्पृष्ट अनन्य नियत और असंयुक्त,

अविशेष देखें आत्मा होवें सहज ही मुक्त।
परमार्थ ही हो स्वार्थ, हों निस्वार्थ हे स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
सब जीव सिद्ध सम दिखें नहिं राग-द्वेष हो,
ज्ञेयों से भिन्न ज्ञायक की महिमा विशेष हो।
हो उपादेय आत्मा को आत्मा नित्य ही स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
जानें निज परमब्रह्म ब्रह्मरूप में रमें,
निर्दोष ब्रह्मचर्य हो दुर्वासना भगे।
आदर्श प्रेरणा स्वरूप हो चरण स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
होते जावें विज्ञानघन, रागादि क्षीण हों,
नहीं दीन हों स्वाधीन पर से उदासीन हों।
निकलंक हों निष्पाप हों निर्ग्रन्थ हों स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
एकाकी निर्भय निज में ही संतुष्ट रहेंगे,
शुद्धात्मा के ध्यान से सब कर्म भगेंगे।
प्रगटे सहज अविनाशी अक्षय प्रभुता हे स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।
रहकर भी मौन सहज मुक्ति मार्ग कहेंगे,
धनि-धनि अनुभूत मार्ग के प्रणेता बनेंगे।
होगी प्रभावना अहो परिपूर्ण हो स्वामी।। रे अन्तर्मन...।।

(115) मंगल शृङ्गार

मस्तक का भूषण गुरु आज्ञा, चूड़ामणि तो रागी माने।
सत्-शास्त्र श्रवण है कर्णों का, कुण्डल तो अज्ञानी जाने।। 1।।
हीरों का हार तो व्यर्थ कण्ठ में, सुगुणों की माला भूषण।
कर पात्र-दान से शोभित हों, कंगन हथफूल तो हैं दूषण।। 2।।
जो घड़ी हाथ में बँधी हुई, वह पड़ी यहीं रह जायेगी।

जो घड़ी आत्म-हित में लागी, वह कर्म बंध विनशायेगी।। 3।।
जो नाक में नथुनी पड़ी हुई, वह अन्तर राग बताती है।
श्वांस-श्वांस में प्रभु सुमिरन से, नासिका शोभा पाती है।। 4।।
होठों की यह कृत्रिम लाली, पापों की लाली लायेगी।
जिसमें बँधकर तेरी आत्मा, भव-भव के दुःख उठायेगी।। 5।।
होठों पर हँसी शुभ्र होवे, गुणियों को लखते ही भाई।
ये होंठ तभी होते शोभित, तत्त्वों की चर्चा मुख आई।। 6।।
क्रीम और पाउडर मुख को, उज्ज्वल नहिं मलिन बनाता है।
हो साम्यभाव जिस चेहरे पर, वह चेहरा शोभा पाता है।। 7।।
आँखों में काजल शील का हो, अरु लज्जा पाप कर्म से हो।
निज ज्ञायक रूप बसा होवे, अरु नाता केवल धर्म से हो।। 8।।
जो कमर करधनी से सुन्दर, माने उस सम है मूढ़ नहीं।
जो कमर ध्यान में कसी गई, उससे सुन्दर है नहीं कहीं।। 9।।
पैरों में पायल ध्वनि करतीं, वे अन्तर द्वन्द्व बताती हैं।
जो चरण चरण की ओर बढ़े, उनके सन्मुख शरमाती हैं।। 10।।
जड़ वस्त्रों से तो तन सुन्दर, रागी लोगों को दिखता है।
पर सच पूछो उनके अन्दर, आतम का रूप सिसकता है।। 11।।
जब बाह्य मुमुक्षु रूप धार, ज्ञानाम्बर को धारण करता।
अत्यन्त मलिन रागाम्बर तज, सुन्दर शिवरूप प्रकट करता।। 12।।
एकत्व ज्ञानमय ध्रुव स्वभाव ही, एक मात्र सुन्दर जग में।
जिसकी परिणति उसमें ठहरे, वह स्वयं विचरती शिवमग में।। 13।।
वह समवसरण में सिंहासन पर, गगन मध्य शोभित होता।

रत्नत्रय के भूषण पहने, अपनी प्रभुता को प्रगटाता।। 14।।
पर नहीं यहाँ भी इतिश्री, योगों को तज स्थिर होता।
अरु एक समय में सिद्ध हुआ, लोकाग्र जाय अविचल होता।। 15।।

(116) नारी स्वरूप

यदि द्रव्यदृष्टि से देखो तो, नारी तो कोई द्रव्य नहीं।
असमान जाति का नाम मात्र, उसमें तो सुख है नहीं कहीं।। 1।।
जिस तन पर रीझ रहा मोही, वह तो पुद्गल का पिण्ड अरे।
परिणति में आस्रव बंध चले, उसमें भीतर चैतन्य रहे।। 2।।
वह तो तेरे सम ही भाई, किंचित् विकार अस्तित्व नहीं।
उसको निरखे भागे विकार, समता से होवे मुक्ति-मही।। 3।।
पर्यायमूढ़ मिथ्यात्वी को, निज भोग योग्य वह है दिखती।
ज्यों रोग पीलिया होने पर, शुभ श्वेत वस्तु पीली दिखती।। 4।।
पति को तो पत्नी रूप दिखे, भाई को भगिनी दिखती है।
सुत को माता, पुत्री पितु को, ज्यों दृष्टि हो त्यों सृष्टि है।। 5।।
कैमरा वस्त्र अरु चर्म ग्रहे, अस्थि एक्स-रे का विषय बने।
त्यों अज्ञानी उपरोक्त लखे, पर ज्ञानी को चैतन्य दिखे।। 6।।
व्यवहार चतुर आगम प्रवीण, भी उसको लख चिंतन करता।
चैतन्य विराधन कर माया से, आत्मा स्त्री तन धरता।। 7।।
यदि इसके हाव-भाव लखकर, मैं अपना धर्म विसारूँगा।
तो पाप बंध होगा भारी, नरभव की बाजी हारूँगा।। 8।।
यह भव तो भव के नाश हेतु, चिन्तामणि सम मैंने पाया।
नारी की माया से हटकर, पाऊँगा रत्नत्रय माया।। 9।।
निज आत्मतत्त्व है निर्विकार, उसका अवलम्बन मुझे उचित।

इससे विकार करना न योग्य, बस रहना ज्ञायक मुझे उचित।। 10।।
स्त्री पर्याय को पाकर भी, जो ज्ञानरूप चेतन देखे।
तो सम्यक्त्वी होकर निश्चय, यह स्त्रीलिंग तत्क्षण छेदे।। 11।।
ऐसा विचार कर यदि उर से, किंचित् करुणा का स्रोत बहे।
तो जम्बूस्वामी सम विरक्त, उस उर में भी वैराग्य भरे।। 12।।
अरु ध्यान दशा में निर्विकल्प, स्वाभाविक परिणति होती है।
निज ज्ञायक में जागृति रहे, परिणति बाहर से सोती है।। 13।।
हैं धन्य-धन्य वे जीव सदा, जो हैं ऐसी परिणति धारी।
उनकी महिमा के वर्णन में, इन्द्रों की भी बुद्धि हारी।। 14।।
मैं बार-बार उनके चरणों में, सादर शीश नवाता हूँ।
उन सम ही होऊँ निर्विकार, बस यही भावना भाता हूँ।। 15।।

(दोहा)

परमब्रह्म लखता रहूँ, एक अचल निज-भाव।
पूर्ण अखण्डित शील हो, मेटूँ सकल-विभाव।।

(117) चेतो-चेतो आराधना में

देखो-देखो यह जीव की, विराधना का फल।
चेतो-चेतो आराधना में, मत बनो निर्बल।। टेक।।

पाषण खण्ड कह रहे, कठोरता त्यागो।
विनम्र हो उत्साह से, शिवमार्ग में लागो।।
बहते हुए झरने कहें, धोओ मिथ्यात्व मल।। देखो-देखो..।। 1।।
ईर्ष्या त्यागो जलती हुई अग्नि है कह रही।
मत चाह दाह में जलो, सुख अन्तर में सही।।
वायु कहे भ्रमना वृथा, होओ निज में निश्चल।।देखो-देखो..।। 2।।
जड़ता छोड़ो, प्रमाद को नाशो कहें तरुवर।

शुद्धातमा ही सार है, उपदेश दें गुरुवर।।
समझो–समझो निजात्मा, अवसर बीते पल–पल।। देखो–देखो.. ।।3।।
मायाचारी संक्लेशता का, फल कहें तिर्यञ्च।
जागो अब मोह नींद से, छोड़ो झूठे प्रपञ्च।।
जिनधर्म पाया भाग्य से, दृष्टि करो निर्मल।। देखो–देखो.. ।। 4।।
शृंगार अरु भोगों की रुचि का, फल कहती नारी।
कंजूसी पूर्वक संचय का, फल कहते भिखारी।।
बहु आरम्भ–परिग्रह के फल में, नारकी व्याकुल।। देखो–देखो.. ।।5।।
असहाय शक्ति हीन, देखो दरिद्री रोगी।
कोई इष्ट–वियोगी, कोई अनिष्ट–संयोगी।।
घिनावना तन रूप, अंगोपांग हैं शिथिल।। देखो–देखो.. ।। 6।।
यदि ये दुःख इष्ट नहीं हैं तो निज भाव सुधारो।
निवृत्त हो विषय–कषायों से, निजतत्त्व विचारो।।
चक्री के वैभव भोग भी, सुख देने में असफल।। देखो–देखो.. ।।7।।
पाकर किञ्चित् अनुकूलताएँ, व्यर्थ मत फूलो।
हैं पराधीन आकुलतामय, नहीं मोह में भूलो।।
ध्रुव चिदानन्दमय आत्मा ही लक्ष्य करो अविरल।। देखो–देखो.. ।।8।।
पुण्यों की भी तृष्णायतनता, अबाधित जानो।
बन्धन तो बन्धन ही अरे, उसे शिवमार्ग मत मानो।।
ज्यों अंक बिन बिन्दी, त्यों स्वानुभव बिन जीवन निष्फल।। देखो–देखो.. ।।9।।
अब योग तो सब ही मिले, पुरुषार्थ जगाओ।

अन्तर्मुख हो बस मात्र, जाननहार जनाओ।।
सन्तुष्ट निज में ही रहो, ब्रह्मचर्य हो सफल।। देखो-देखो.. ।। 10।।
सब प्राप्य निज में ही अहो, स्थिरता उर लाओ।
तुम नाम पर व्यवहार के, बाहर न भरमाओ।।
निर्ग्रन्थ हो निर्द्वन्द्व हो ध्याओ, निजपद अविचल।। देखो-देखो.. ।। 11।।
निज में ही सावधान ज्ञानी, साधु जो रहते।
वे ही जग के कल्याण में, निमित्त हैं होते।।
ध्याओ ध्याओ शुद्धात्मा, पर की चिन्ता निष्फल।। देखो-देखो.. ।। 12।।
निर्बन्ध के इस पंथ में, जोड़ो नहीं सम्बन्ध।
विचरो एकाकी निष्पृही, निर्भय सहज निःशंक।।
निर्मूढ़ हो, निर्मोही हो, पाओ शिवपद अविचल।। देखो-देखो.. ।। 13।।

(118) आराधना का फल

आराधना का फल देखो जिनवर दिखा रहे।
अपना सर्वस्व अपने में प्रभुवर बता रहे।।टेक।।
देखो तुम ज्ञानदृष्टि से प्रभु तृप्त निज में ही।
नाशा दृष्टि दर्शा रही सुख शान्ति निज में ही।।
निस्सार जग के वैभव अरु पंचेन्द्रिय भोग रे।। आराधना.।। 1।।
क्रमरूप सहज होता है सब ही का परिणमन।
कर्त्तृत्व मिथ्या क्यों करे किंचित् न हो फिरन।।
ज्ञातृत्व का आनन्द तो प्रभुवर दर्शा रहे।। आराधना.।। 2।।
अतीन्द्रिय यह अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीरज।

निर्मुक्त अक्षय प्रभुतामय छूती न कर्म रज।।
ऐसी महिमा अपने में ही अपने से प्रगटे रे।। आराधना.।। 3।।
चैतन्य रत्नाकर में अपने रत्न हैं अनन्त।
नहिं केवलज्ञान में भी आया आदि और अन्त।।
है सहज प्राप्त उनको निज में जो गहरे उतरे।। आराधना.।। 4।।
सोचो चिर से भम्रते-भ्रमते क्या तुमने है पाया ?
जीवन में पाई है क्या सच्चे सुख की भी छाया।।
चंचलता छोड़ो स्थिरता में ही सुख विलसे रे।। आराधना.।। 5।।
उसकी तो चाह नहीं होती जो अपने में नहीं हो।
दु:ख दारिद्र बंधन रोगादिक को इच्छे कौन कहो ?
प्रभुता सुख ज्ञान विभव मुक्ति निज में ही प्रगटे रे।। आराधना.।।6।।
कुछ कमी नहीं शुद्धातम है परिपूर्ण निज में ही।
है अपने में ही साध्य और साधन भी निज में ही।।
अनुभव में प्रत्यक्ष देखे तब निज महिमा आवे रे।। आराधना.।। 7।।
है परमब्रह्म परमात्मा स्वयमेव आनन्दमय।
अपनाओ पावन ब्रह्मचर्य होकर तुम निर्भय।।
एकाकी रह एकान्त में निज ध्रुवपद ध्याओ रे।। आराधना.।। 8।।
इस मार्ग में दु:ख की नहीं कुछ कल्पना करना।
आदर्श हैं जिनराज अरु शुद्धात्मा शरणा।।
शक्ति सामर्थ्य भी निज में ही सहज विकसे रे ।। आराधना.।। 9।।
निष्कंटक मुक्तिमार्ग में कंटक नहीं बोओ।

सब योग तो सहज ही मिले पुरुषार्थ सम्यक् हो।।
स्वप्नों में खिसक-खिसक कर मत भवकूप पड़ो रे।। आराधना.।। 10।।
सोचो नलिनी का तोते को आधार ही क्या है ।
आकाश में तो उड़ने का उसका स्वभाव है।।
पराश्रय बुद्धि छोड़ो निज में तृप्त रहो रे।। आराधना.।। 11।।
तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जीतो विभावों को।
हो शान्तचित्त धीरज धरो एकाग्रता खुद हो।।
नहिं दीनता लाओ कभी, प्रभुता निहारो रे।। आराधना.।। 12।।
आरम्भ अरु परिग्रह रहित निर्भार हो जीवन।
आराधना से हो सरस आनन्दमय जीवन।।
संतुष्ट निज में ही अहिंसामय आचरण रे।। आराधना.।। 13।।
दर्शन आराधना अहो! निज नाथ का दर्शन।
है ज्ञान आराधन अहो! निज का ही अनुभवन।।
थिरता चारित्र विश्रान्ति है तप आराधन रे।। आराधना.।। 14।।
आराध्य ध्रुव शुद्धात्मा चिन्मात्र चित्स्वरूप।
आराधक सम्यग्ज्ञानी जानो फल मुक्ति स्वरूप।।
निर्मोही हो आराधना में बढ़ते चलो रे।। आराधना.।। 15।।

(119) वात्सल्य भावना

साधर्मी वात्सल्य हृदय में सदा बहे।
स्वाभाविक समता भाव जीवन में सहज रहे।। टेक।।
अन्तर्दृष्टि से सबको नित भगवान ही देखूँ।

पर्यायों के औदायिक भाव गौण कर देखूँ।।
कर्मों के प्रेरे नाना जीवों को लखकर स्वामी।
परिणामों में आवे नहीं किंचित् कभी ग्लानि।।
धारा नित तत्वज्ञान की मम अंतर में बहे।। 1।।
गुरुओं जैसी गम्भीर गुरुता सहज ही वर्ते।
उत्तम क्षमा दोषों के प्रति भी सहज प्रवर्ते।।
निस्पृह निरभिमानी निराकुल हो सरल जीवन।
बढ़ता रहे प्रभुवर निरन्तर आत्म-आराधन।।
निस्पृह निर्लोभी निष्कषाय परिणति रहे।। 2।।
तत्त्वों का हो शुभ चिन्तवन हित-मित मधुर वचन।
जिनधर्म की प्रभावना के हेतु हो प्रवचन।।
मद मत्सर भाव परिणति में आ नहीं पावे।
विषयों की कोई कल्पना भी छू नहीं पावे।।
जल में जलज वत् भावना निर्लिप्त नित रहे।। 3।।
अनुकूलता में फूलकर भूलूँ नहीं धरम।
प्रतिकूलता में खिन्न हो बाँधूं नहीं करम।।
कर्मोदय के फल ज्ञाता रहकर भिन्न ही जानूँ।
अपना स्वरूप ज्ञान अरु आनन्दमय मानूँ।।
प्रीति-अप्रीति भाव पर के प्रति नहीं रहे।। 4।।
रागादिक से न्यारे होने की भावना भाऊँ।
रागादिक से न्यारा अपना स्वरूप नित ध्याऊँ।।
कुछ भी अपेक्षा हो नहीं जग से कभी मुझको।

निज भाव में ही तृप्तता वर्ते सहज मुझको।।
जिनधर्म की प्रभावना की भावना रहे।। 5।।
संयम के मार्ग में सहज आनन्द से बढ़ूँ।
संयम की प्रेरणा तथा अनुमोदना करूँ।।
आवे नहीं दुर्भावना कुछ स्वप्न में कभी।
होवे नहीं विराधना मुझसे किसी की भी।।
धर्मायतन अरु धर्म प्रति अर्पण सभी रहें।। 6।।
परमार्थ ज्ञानाभ्यास ही है संयम का कारण।
संयम से ही सम्भव है सर्व क्लेश निवारण।।
सर्वस्व न्यौछावर करूँ मैं संयम के लिए।
जीवन की है इक-इक घड़ी बस संयम के लिए।।
संयम का मंगलमय प्रवाह बहता ही रहे।। 7।।
भोगों की प्रेरणा ही है दुर्मोह का प्रतीक।
संयम की प्रेरणा ही है वात्सल्य का प्रतीक।।
संयम से ही होवें सुखी जग के सभी प्राणी।
है मुक्ति मार्ग का निमित्त संयमी वाणी।।
जिनवाणी का अभ्यास अंतर में सदा रहे।। 8।।
राजा महाबल को मंत्री ने धर्म बताया।
फिर मुनि हो भोग भूमि में सम्यक्त्व कराया।।
देखो सुर ने निज मित्रता कैसे निभाई थी।
चक्री सगर को युक्ति से दीक्षा दिलाई थी।।
साँचे वात्सल्य से ही भव्य दृढ़ सहज रहे।। 9।।

वात्सल्य से मुनि ने अहो सुकुमाल जगाया।
वात्सल्य से तिर्यंचों को भी बोध सिखाया।।
देखो कैसा वात्सल्य मुनि विष्णुकुमार का।
मुनि संघ की रक्षा होवे बस ये विचार था।।
अपनी दीक्षा भी छेद कर अन्तर में दृढ़ रहे।। 10।।
सीता ने पाला था जटायु को अति प्रीति से।
धर्मी तिर्यंच को भी दें आहार रीति से ।।
निजप्राण दे निकलंक ने अकलंक बचाये।
अकलंक की प्रभावना को कौन कवि गाये।।
आदर्श ये ही प्रभु सदा मम चित्त में रहे।। 11।।
पशुओं को नेमिनाथ का वात्सल्य छुड़ाता।
दुखियों को दुःख में धैर्य भी वात्सल्य बँधाता।।
डिगते हुए को धर्म में वात्सल्य लगाता।
गुरुओं का वात्सल्य ही शिवपथ में बढ़ाता।।
रे ज्ञानमय वात्सल्य ज्ञानी के सदा रहे।। 12।।
साधर्मी वात्सल्य बिन हो धर्म का ही ह्रास।
साधर्मी वात्सल्य से हो धर्म का विकास।।
धर्मात्मा की रक्षा निज शरीर-सम करूँ।
निजधर्म की रक्षा अहो निज नेत्र-सम करूँ।।
संकोच या कुछ भी प्रमाद इसमें नहीं रहे।। 13।।

दे सान्त्वना सबको लगाऊँ धर्म मार्ग में।
दे प्रेरणा सबको बढ़ाऊँ धर्म मार्ग में।।
अनुरूप होवें भावना के ही वचन सहज।
संबोधन सेवा अरु सहाय योग्य हो सहज।।
श्रद्धा निशंक नित्य मुक्तिमार्ग में रहे।। 14।।
सच्चा सगापन साधर्मी में ही होता भाई।
अरहंत हम सबके पिता हैं जिनवाणी माई।।
हो धर्मी से गौ-वत्स सम अति प्रीति अविकारी।
होवें सहायक हम परस्पर धर्म व्रत धारी।।
बोधि-समाधि की सदा ही भावना रहे।। 15।।
स्वधर्मी से प्रीति परम परमार्थ वात्सल्य।
साधर्मी से प्रीति हो यथायोग्य अरु निशल्य।।
नहीं बाह्य जीवन में भी तो असहायपन भासे।
मैत्री हो प्राणी मात्र से वात्सल्य प्रकाशे।।
हो शांतिमय जीवन सहज निश्चिंतता रहे।। 16।।
विस्मय से देखे लोक भी वात्सल्य हमारा।
जिनशासन हमको है अहो प्राणों से भी प्यारा।।
जिनशासन की प्रभावना में तन-मन-धन अर्पण।
आराधन में हो सदा सर्वस्व समर्पण।।
आराधनामय धर्म की प्रभावना रहे।। 17।।

(120) निर्ग्रन्थ स्वरूप

निर्ग्रन्थता की दीक्षा का उत्सव हो आनन्दमय।
निर्ग्रन्थरूप चित्स्वरूप सहज आनन्दमय।।
स्वाभाविक आनन्दमय, निरपेक्ष आनन्दमय ।। टेक।।
स्वाधीन ज्ञायक भाव है, अतीन्द्रिय आनन्दमय।
अविनाशी आनन्दमय, उत्कृष्ट आनन्दमय।।
है अगुरुलघु भगवान, नित्य ज्ञान आनन्दमय।। 1।।
जब ही अनुभव रस चाख्यो, कुछ नहिं और सुहावे।
चैतन्य स्वरूप ही, अपना मोहि सार दिखावे।।
परिग्रह का बोझा छूटे, हो मुनिधर्म मंगलमय।। 2।।
नहीं विषयों की कुछ आशा, आरम्भ रहित हो जीवन।
उपजे ही नहीं कषायें, निष्पाप शुद्ध हो जीवन।।
उपसर्गों में भी सदा रहे, परिणाम समतामय।। 3।।
निशल्य हो, निर्द्वन्द्व हो, ध्याऊँ मैं शुद्धातम।
जितेन्द्रिय बनूँ, भाऊँ अविरल सहज परमातम।।
आराधना चिद्रूप की हो, परम मंगलमय।। 4।।
ज्ञाता हूँ, ज्ञाता ही रहूँ, नहीं क्षोभ उर आवे।
निज में निज रस पीते-पीते, नित तृप्ति रहावे।।
भव-बन्धन झड़ जावे सब ही, मुक्ति पद हो अक्षय।। 5।।

(121) संयताष्टक

संयत का लक्षण समता है, संयत का जीवन समता है।
जिसमें दशलक्षण गर्भित हैं, साक्षात् धर्म तो समता है।। टेक।।

विषय वासना से विरहित, निरपेक्ष शुद्ध निश्चल स्वाधीन।
सहजानंदमय परमानंदमय, रहें सहज आतम में लीन।।
मोह-क्षोभ से शून्य ज्ञानमय, निज परिणति ही समता है।।1।।
तत्त्वों का श्रद्धान है सम्यक्, ज्ञायक में ही अहं हुआ।
इष्ट-अनिष्ट कल्पना नाशी, निर्मल भेद-विज्ञान हुआ।।
सहज तृप्त निष्काम परिणति, किंचित् नहीं विषमता है।।2।।
परीषहों में चलित न होवें, उपसर्गों में अडिग रहें।
परम जितेन्द्रिय अहो अतीन्द्रिय, ज्ञानानंद में तुष्ट रहें।।
मन-वच-काया में भी जिनको, रही लेश नहीं ममता है।।3।।
निस्पृह रह शिवमार्ग दिखाते, नहीं भार किंचित् लेते।
अपनी निधि अपने में भोगें, जग की निधि जग को देते।।
पर प्रतिबन्ध निषेधा जिनने, निज में ही अनुबन्धता है।।4।।
विषय लुब्धता नष्ट हुई है, ज्ञेय लुब्धता नहीं रही।
पर से नहीं प्रयोजन कुछ भी, परिणति निज में लीन हुई।।
सुख यही है शांति यही है, ये ही उदासीनता है।। 5।।
अरे क्षयोपशम न्यूनाधिक हो, चाहे जैसा उदय रहे।
इससे नहीं कुछ अन्तर पड़ता, साधक नित निर्द्वन्द्व रहे।।
धीर-वीर-गम्भीर ज्ञानमय, अहो अलौकिक प्रभुता है।।6।।
जब मोही भोगों में गाफिल, मोह नींद में सोता है।
इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके, हँसता है अरु रोता है।।
तब निर्ग्रन्थ संयमी योगी, निजानंद में रमता है।। 7।।

अंतर्दृष्टि रहे सदा ही, सहज ज्ञानधारा वर्ते।
कर्म–कर्मफल से विरक्त हो, आत्मध्यान धारा वर्ते।।
परम साध्य निज में ही पाऊँ, ये ही भाव उमगता है।। 8।।

(122) गुरु–स्मरण

(तर्ज- आत्मा हूँ, आत्मा हूँ)

परमार्थ से गुरु आत्मा का आत्मा।
व्यवहार से निर्ग्रन्थ गुरु शुद्धात्मा।। टेक।।
आत्मा ही सुःख की इच्छा करे,
आत्मा ही सुःख का उद्यम करे।
स्वयं की ही भूल से भव में भ्रमे,
भूल तज कर मोक्षमार्गी भी बने।।
साधना से हो स्वयं परमात्मा।। परमार्थ.।। 1।।
तत्त्व समझे शिष्य होकर स्वयं ही,
अंतरंग में फिर विचारे स्वयं ही।
तत्त्वनिर्णय भी करे जब स्वयं ही,
भेदविज्ञानी बने जब स्वयं ही।।
स्वयं ही अनुभव करे शुद्धात्मा।। परमार्थ.।।2।।
आत्महित की भावना भाता जभी,
हेय तज उपादेय को पाता तभी।
जग प्रपंचों को तजि निर्ग्रन्थ हो,
सहता परीषह भी सहज निर्द्वन्द्व हो।।
आत्मा में मग्न हो तब आत्मा।। परमार्थ.।।3।।

परम आनन्दमय सहज ही तृप्त हो,
क्षपक–श्रेणी भी चढ़े तब सहज हो।
घाति कर्मों से सहज ही रहित हो,
अनन्त चतुष्टयरूप तब परिणमित हो।।
हो स्वयंभू स्वयं ही परमात्मा।। परमार्थ.।।4।।
शिवमार्ग की होवे परम प्रभावना,
आराध्य होके कर स्वयं आराधना।
सर्व कर्मों से रहित ध्रुव सिद्ध हो,
सहज शाश्वत रूप ही प्रसिद्ध हो।।
आवागमन से रहित हो सिद्धात्मा।। परमार्थ.।।5।।
आत्मन्! अब तो पराई आस तज,
नि:शङ्क हो निरपेक्ष हो निज भाव भज।
सहज पाने योग्य सब ही पायेगा,
छूटने के योग्य सब छुट जायेगा।।
पूर्ण वैभववान निज शुद्धात्मा।। परमार्थ.।।6।।
स्मरण करता गुरो! मैं भक्ति से,
देखता निज में ही निज की शक्ति से।
निश्चिंत हो एकाग्र हो ध्याऊँ गुरो,
आप सम निर्ग्रन्थ पद पाऊँ गुरो।।
उपकार गुरुवर! मैं लखा शुद्धात्मा।। परमार्थ.।।7।।

(123) शुद्धोपयोग भावना

प्रभुवर तुम्हें निर्ग्रन्थ लखकर, हो सहज ही भावना।
रहूँ मैं निर्ग्रन्थ स्वामिन्! हो परिग्रह लेश ना।। 1।।
शान्त मन हो शान्तिमय, चिद्भाव का अनुभव रहे।
कृतकृत्य तृप्त रहूँ सहज, कर्तव्य किंचित् नहीं रहे।। 2।।
निस्पृह निःसंग रहूँ सदा, दुर्भाव उत्पन्न ही न हो।
ज्ञेय मात्र रहे सभी, अन्तर न द्वन्द्व न फन्द हो।। 3।।
ज्ञायक हूँ, ज्ञायक ही रहूँ, नहिं कुछ प्रयोजन शेष है।
संतुष्ट निज में ही हुआ, वाँछा हुई निःशेष है।। 4।।
भव भोग जगत स्वरूप लख, सहजहिं उदासी हो गयी।
दीखे न कुछ भी सुख वहाँ प्रभु आश मिथ्या मिट गयी।। 5।।
सर्वस्व पाया स्वयं में, प्रभुता अहो प्रभु सम दिखी।
ज्ञान पाया, सुख पाया, सहज मुक्ति भी दिखी।। 6।।
अब न किंचित् भय रहा, निर्भय स्वतंत्र रहूँ सदा।
अरि-मित्र-महल-मसान माँही, रहे समता सर्वदा।। 7।।
शुद्धोपयोग अछिन्न वर्ते, कर्म सब नाशें सहज।
छूटे सहज आवागमन, परमात्म पद प्रगटे सहज।। 8।।
बहुमान से पूरित हृदय, प्रभु भक्ति उमगे सहज ही।
होवे सहज आराधना, प्रभु नमन भी हो सहज ही।। 9।।

(124) गुरु-स्मरणाष्टक

गुरुवर मेरे उर में आओ, ऐसे आओ कभी न जाओ।
भेदज्ञान की ज्योति जगाओ, मोह अंधेरा दूर भगाओ।।

सम्यक् वस्तु स्वरूप दिखाओ, हाथ पकड़ कर मुझे उठाओ।।टेक।।
मिथ्या जगत प्रपंचों से गुरु, मेरा चित घबराया है।
यहाँ धूल में शूल छिपे हैं, शरण न कोई दिखाया है।।
शरणागत हूँ अहो मुनीश्वर, सम्यक् शिवपथ दरशाओ।। 1।।
भूल आपको पर ममता में, व्यर्थ गुरो! मैं भरमाया।
अपने को बंधन में डाला, पर का कुछ नहीं कर पाया।।
पर तो पर ही निज नहीं होवे, आत्म-साधना मुझे सिखाओ।।2।।
सुख के भ्रम से भव भोगों में फँसकर, दुख ही दुख पाया।
गुरु गम्भीर गिरा सुनकर, सुख सागर अंतर दर्शाया।।
हुई विरक्ति संयम देकर, जीवन मेरा सफल बनाओ।। 3।।
सहज सदा ही समता वर्ते, हो प्रसन्नता अंतर में।
आधि-व्याधि-उपाधि रहित, हो सहज लीनता अंतर में।।
यही चाह है यही राह है, अंतर में उपयोग रमाओ।। 4।।
अब तो विरह सहा नहीं जाता, अभिलाषा है दर्शन की।
सेवा को तो हाथ तरसते, चाह चरण स्पर्शन की।।
दोषों का शुभ प्रायश्चित दे, मुझको अब निर्दोष बनाओ।। 5।।
ज्ञेयों से निरपेक्ष ज्ञानमय, सहज सतत ही अनुभव हो।
निर्विकल्प निर्द्वन्द्व निराकुल, परम शान्तिमय जीवन हो।।
गुरु चरणों में शीस नवाऊँ, मंगल आशिष वर्षाओ।। 6।।
भला बुरा जैसा भी मैं हूँ, शिष्य आपका कहलाता।
मेरे दोषों से खेद अरे! अपवाद आपका भी होता।।
हो प्रभावना मंगलकारी, ऐसा लायक मुझे बनाओ।। 7।।

प्रथम भूमिका में हे गुरुवर, सहजपने अवलम्बन दो।
मेरा भी पुरुषार्थ जगे यों, निज में निज अवलम्बन हो।।
स्वाश्रय से ही शिव पद पाऊँ, मेरे तारण हार कहाओ।। 8।।

(125) निर्ग्रन्थ भावना

निर्ग्रन्थता की भावना अब हो सफल मेरी।
बीते अहो आराधना में हर घड़ी मेरी।। टेक।।
करके विराधन तत्त्व का, बहु दुःख उठाया।
आराधना का यह समय, अतिपुण्य से पाया।।
मिथ्या प्रपंचों में उलझ अब, क्यों करूँ देरी।। निर्ग्रन्थता...।।
जब से लिया चैतन्य के, आनन्द का आस्वाद।
रमणीक भोग भी लगें, मुझको सभी निःस्वाद।।
ध्रुवधाम की ही ओर दौड़े, परिणति मेरी।। निर्ग्रन्थता...।।
पर में नहीं कर्त्तृत्व मुझको, भासता कुछ भी।
अधिकार भी दीखे नहीं, जग में अरे कुछ भी।।
निज अंतरंग में ही दिखे, प्रभुता मुझे मेरी।। निर्ग्रन्थता...।।
क्षण-क्षण कषायों के प्रसंग ही बनें जहाँ।
मोहीजनों के संग में, सुख शान्ति हो कहाँ।।
जग-संगति से तो बढ़े, दुखमय भ्रमण फेरी।।। निर्ग्रन्थता...।।
अब तो रहूँ निर्जन वनों में, गुरुजनों के संग।
शुद्धात्मा के ध्यानमय हो, परिणति असंग।।
निजभाव में ही लीन हो, मेटूँ जगत-फेरी।। निर्ग्रन्थता...।।
कोई अपेक्षा हो नहीं, निर्द्वन्द्व हो जीवन।

संतुष्ट निज में ही रहूँ, नित आप सम भगवन्।।
हो आप सम निर्मुक्त, मंगलमय दशा मेरी।
निर्ग्रन्थता की भावना अब हो सफल मेरी।।
अब तो सहा जाता नहीं, बोझा परिग्रह का।
विग्रह[1] का मूल लगता है, विकल्प विग्रह[2] का।।
स्वाधीन स्वाभाविक सहज हो, परिणति मेरी।। निर्ग्रन्थता...।।

(126) निर्ग्रन्थ भाव स्तवन

पर से अति निरपेक्ष है, प्रभुता अपरम्पार।
अहो! अकिंचननाथ को, वंदन अगणित बार।।

(रोला)

तजा अनादि मोह सजा निजपद अविकारी,
समयसारमय हुए सहज चैतन्य विहारी।
परम इष्ट ज्ञायक स्वभाव में तृप्त हुए थे,
वीतराग-विज्ञान रूप परिणमित हुए थे।। 1।।
कुछ अनिष्ट नहीं दिखा कल्पना मिथ्या छूटी,
क्रोध भाव की संतति भी फिर सहजहिं टूटी।
हीनाधिक नहीं दिखें सभी भगवान दिखावें,
अरे मान के भाव सहज ही नहिं उपजावें।। 2।।
पूर्ण सिद्ध सम आतम जब दृष्टि में आया,
गुप्त पापमय माया का तब भाव नशाया।
छल प्रपंच सब भगे सरलता हुई संगिनी,
मुक्ति-मार्ग में यही परिणति स्व-पर नंदनी।। 3।।

अक्षय आत्मविभव पाया तब लोभ नशाया,
अनंत चतुष्टय सहजपने प्रभुवर प्रगटाया।
परम पवित्र हुए निर्दोष निरामय स्वामी,
अहो! पतित-पावन कहलाते त्रिभुवननामी।। 4।।
सहज सुखी हो प्रभो हास्य का काम नहीं है,
निज में ही संतुष्ट न रति का नाम कहीं है।
निजानन्द में नहीं अरति या खेद सु आवे,
होवे नहीं वियोग शोक फिर क्यों उपजावे।। 5।।
लौकिक जन ही अरे! हास्य में समय गँवावें,
रत होवें सुख मान अरति कर फिर दुख पावें।
अहो! निःशंकित आप स्वयं में निर्भय रहते,
करें आपका जाप सर्व भय उनके भगते।। 6।।
निर्मल आत्मस्वभाव ज्ञान भी निर्मल रहता,
लोकालोक विलोक जुगुप्सा कहीं न लहता।
फैली धर्म सुवास वासना दूर भगावें,
स्त्री पुरुष नपुंसक वेद नहीं उपजावें।। 7।।
परम ब्रह्ममय मंगलचर्या प्रभो आपकी,
नहीं वेदना होवे किंचित् त्रिविध ताप की।
भान हुआ जब निज स्वभाव का मूर्छा टूटी,
बाह्य परिग्रह की वृत्ति भी सहजहिं छूटी।। 8।।
पर केवल पर दिखे ग्रहण का भाव न आया,
निस्पृह निज में तृप्त अलौकिक है प्रभु माया।

चेतन मिश्र अचेतन परिग्रह सब ठुकराया,
हुए अकिंचन आप पंथ निर्ग्रन्थ सु भाया।। 9।।
शुद्ध जीवास्तिकाय अलौकिक महल आपका,
सहज ज्ञान साम्राज्य प्रगट है विभो आपका।
नित्य शुद्ध सम्पदा खान है अन्तर माँहि,
पर से कुछ भी कभी प्रयोजन दीखे नाहीं।। 10।।
स्वानुभूति रमणी है नित ही तृप्ति प्रदायी,
ध्रुवस्वभाव ही सिंहासन है आनन्ददायी।
निरावरण निर्लेप अनाहारी हो स्वामी,
अनुभव-अमृत भोजी नित्य निराकुल नामी।। 11।।
अहो आप सम आप कहाँ तक महिमा गाऊँ,
यही भावना सहज अकिंचन पद प्रगटाऊँ।
चरणों में है भक्ति भाव से नमन जिनेश्वर,
निज प्रभुता में मग्न रहूँ तुम सम परमेश्वर।। 12।।

(दोहा)

जग से आप उदास हो, जगत आपका दास।
यही भावना है प्रभो! रहूँ आपके पास।।

(127) बृहत् साधु स्तवन

(दोहा)

इस अशरण संसार में, शरण रूप व्यवहार।
नमहुँ दिगम्बर गुरु चरण, गुण गाऊँ सुखकार।। 1।।
विषय-कषायारम्भ बिन, ज्ञान-ध्यान-तप लीन।
निर्विकार मुद्रा सहज, करे मोहमल छीन।। 2।।

(चौपाई)

निज निर्ग्रन्थ रूप का ध्यान, प्रचुर स्वसंवेदन सुखदान।
नग्न बाह्य में भी अविकार, साधुदशा जग में सुखकार।। 3।।
तीन कषाय चौकड़ी नाशी, भव तन भोग विरक्ति विकासी।
तृप्त रहें अपने में आप, चर्या सहज होय निष्पाप।। 4।।
उपजें नहिं रागादि विकार, जीव विराधन नहीं दुःखकार।
वर्ते सहज ही यत्नाचार, पले अहिंसा व्रत सुखकार।। 5।।
निज में मग्न मौन अविकार, मृषा कथन होवे न लगार।
क्वचित् कदाचित् सत्योपदेश, नहिं आसक्ति वहाँ भी लेश।।6।।
अपना वैभव लखा अपार, पर पदार्थ लख जगे न प्यार।
सहज अचौर्य महाव्रत होय, वंदनीय है मुनिपद सोय।। 7।।
ध्यावें सदा शुद्ध चिद्रूप, परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप।
ब्रह्मचर्य वर्ते अविकार, लगें नहीं किंचित् अतिचार।। 8।।
अपनी निधि अपने में धार, भये अकिंचन मुनि सुखकार।
तिल तुष मात्र परिग्रह नाहिं, तुष्ट रहें निज आतम माँहि।। 9।।
नहिं आकुलता नहीं प्रमाद, नहिं अनुबन्ध रूप अवसाद।
सहज गमन लागे नहीं दोष, ईर्या समिति पले निर्दोष।। 10।।
प्राणिमात्र प्रति मैत्री भाव, हित-मित-प्रिय वच हों सुखदाय।
भाषा समिति सहज ही होय, तारण-तरण ऋषीश्वर सोय।। 11।।
अनाहारी शुद्धातम ध्यावें, स्वयं-स्वयं में तृप्त रहावें।
दोष छियालीस लगे न कोय, धनि युक्ताहारी मुनि सोय।। 12।।

त्यागोपादानशून्य स्वभाव, भिन्न सभी भासें परभाव।
तँह किंचित् ममत्व नहीं जान, हो सयत्न निक्षेप आदान।। 13।।
जानत सब जीवन की जात, होवे नाहीं उनका घात।
प्रासुक भूमि माँहिं मल डारें, निर्मल आत्म स्वरूप संभारें।। 14।।
नाना इन्द्रिय विषय निहार, हर्ष-विषाद न जिन्हें लगार।
परम जितेन्द्रिय श्री मुनिराय, सहज नमन होवे सुखदाय।। 15।।
चेतनपद परस्यो अविकार, उपज्यो आनन्द अपरम्पार।
जड़ स्पर्श में राग या द्वेष, होवे नहीं सहज लवलेश।। 16।।
स्वाद निजानन्द रस को पाय, बाह्य स्वाद फीके दिखलाय।
नीरस तो नीरस ही रहे, सरस स्वाद भी नीरस भये।। 17।।
अहो अगंध स्वरूप अनूप, परमानन्दमय शुद्ध चिद्रूप।
नहीं सुगन्ध लगे सुखरूप, भासे नहिं दुर्गन्ध दुःखरूप।। 18।।
सुन्दरतम शुद्धात्म स्वरूप, शाश्वत शोभा लखी अनूप।
बाह्यरूप नहिं मन को मोहें, अविकारी मुनि जग में सोहें।। 19।।
राग-रागिनी शब्द कुशब्द, सुनते भी मुनि हो नहीं क्षुब्ध।
अंतर आत्मप्रसिद्धि जगाय, सहज उदास रहें मुनिराय।। 20।।
ध्यावें आत्मरूप अविकार, साम्यभाव वर्ते सुखकार।
ज्ञायकपने स्वयं को जोय, भिन्न ज्ञेय भासे सब लोय।। 21।।
इष्ट-अनिष्ट विकल्प न आय, नहीं विषमता हो दुःखदाय।
सामायिक यह मंगलरूप, होय सहज मुनि को शिवरूप।। 22।।
दर्शायो आतम उत्कृष्ट, जग में पूज्य पंच पद इष्ट।
हो स्तुति वंदन बहुमान, वर्ते सहज भेद-विज्ञान।। 23।।

नहीं अतिक्रमे शुद्ध चिद्रूप, सहज होय प्रतिक्रमण अनूप।
क्रिया ज्ञानमय नित अविकार, दुखदायक अतिचार विडार।।24।।
निमित्त रूप आगम अभ्यास, आप आप जाने सुखरास।
कायोत्सर्ग मुद्रा धरि नित्य, देखें आत्मस्वरूप पवित्र।। 25।।
नहीं स्नान, नहीं शृंगार, नग्न देह शोभे अविकार।
अन्तर बाहर सहज पवित्र, रहित वासना निर्मल चित्त।। 26।।
देहाश्रित निद्रा भी अल्प, जागृत सहज रहें अविकल्प।
स्वाश्रय से लुँचे सु कषाय, केशलोंच बाहर सुखदाय।। 27।।
खड़े-खड़े हो अल्पाहार, एकबार संयम चित्त धार।
न हो दन्तवन हिंसारूप, धन्य जैन मुनि मंगलरूप।। 28।।
नभ समान निर्लेप असंग, ध्यावें शुद्ध चिद्रूप अनंग।
दर्शावें जग में सुखकार, ध्रुव मंगल शुद्धातम सार।। 29।।
परम शान्त मुनिवर आदर्श, मोह विनाशक मुनि का दर्श।
धन्य भाग्य जब दर्शन पाऊँ, हो निर्ग्रन्थ स्वरूप सु ध्याऊँ।।30।।

दोहा- रत्नत्रय शोभित अहो, धन्य साधु निर्ग्रन्थ।
साधें आत्मस्वरूप निज, दर्शावें शिवपंथ।।

(128) सन्यास भावना

(तर्ज - ज्ञान ही सुख है....)

आधि व्याधि उपाधि रहित सहज जो।
ज्ञानमय भावना ही समाधि अहो।। टेक।।
आत्मा तो सहज ही समाधिस्वरुप।
सहज स्वाश्रय से होवे समाधि अहो।।

रे पराश्रय से तो मोह रागादि हों।
फिर पराश्रय से कैसे समाधि भी हो।। 1।।
छूटे पर दृष्टि जब आत्म-अनुभूति हो।
दृष्टि में आवे प्रत्यक्ष शाश्वत प्रभो।।
मैं अनादिनिधन हूँ अजर अरु अमर।
जीवन चैतन्य प्राणों से मेरा अहो।। 2।।
होवे संयोग-वियोग तो देह का।
देह कर्मादि तो हैं सदा भिन्न ही।।
फिर मुझे क्या चली जाय यदि देह तो।
मैं तो पूर्ण स्वयं में स्वयं ही अहो।। 3।।
ऐसी दृष्टि हो अनुभव हो, हो मग्नता।
झूठे संकल्प-विकल्प हों ही नहीं।।
छूट जावे अरे देह स्वकाल में।
शान्तमन हो निराकुल समाधि अहो।। 4।।
साधकों को जदपि दृष्टि सम्यक् हुई।
शेष है फिर भी रागांश चारित्र में।।
बाह्य निमित्तों का ज्ञान इससे दिया।
ज्ञानियों ने हमें अब उसे भी सुनो।। 5।।
मोही परिजन तो रागादि को पोषते।
उनसे न्यारे हो निर्ग्रन्थ उत्तम यही।।
शक्ति नहीं हो तो साधर्मी के संग में।
होवे निशल्य निर्मम सभी से अहो।। 6।।

होवें धनादि तो दानकर त्यागकर।
होके मध्यस्थ ध्याओ निजातम सहज।।
योग्य अवसर में आहार भी छोड़कर।
क्षीण होवें कषायें यों उद्यम करो।। 7।।
तत्त्वचिंतन करो आत्म अनुभव करो।
जग से निरपेक्ष हो, तृप्त निज में रहो।।
साधु पुरुषों के जीवन का आदर्श ले।
घोर प्रतिकूलताओं में भी नहीं डरो।। 8।।
वर्तो निर्भय निशंकित सहज ध्यान में।
आत्मा ज्ञान आनन्द का धाम है।।
व्यर्थ भटको नहीं क्लेश सब दूर हों।
सुख निज में ही शाश्वत मिलेगा अहो।। 9।।
सहित आराधना देह छूटे जभी।
देव हो ऋद्धिसम्पन्न क्षण मात्र में।।
वहाँ भी सम्यक्त्व का बल नहीं लिप्त हो।
तहँतें चयकर मनुज श्रेष्ठ होवे अहो।। 10।।
धार मुनिदीक्षा आराधन पूर्ण कर।
कर्म निर्मुक्त हो, पावे शिवधाम को।।
भव्य! यों जानकर ज्ञान अभ्यास से।
धारो वैराग्य पाओ समाधि अहो।। 11।।

(129) वैराग्य द्वादशी

ध्याऊँ परम आनन्दमय, चैतन्य प्रभु अम्लान।
एक ही है शरण जग में, हुआ अब श्रद्धान।।
नित्य अविकारी प्रभु, पक्षातिक्रान्त निहार।
कह सकूँ नहीं हुआ मोहि, आनन्द अपरम्पार।। टेक।।
देवदर्शन का अलौकिक, फल मिला सुखकार।
ज्ञान में प्रत्यक्ष जनावे, सहज जाननहार।।
उछलती हैं शक्तियाँ, चैतन्य माँहि अपार।। कह सकूँ नहीं....।।
भ्रान्तिवश भ्रमता रहा, परमाँहि सुख विचार।
जाना नहीं शुद्धात्मा, आनन्द का भण्डार।।
धनि मिली प्रभु देशना, पाया समय का सार।। कह सकूँ नहीं....।।
चाह नहीं चिंता नहीं, परिपूर्ण तत्त्व दिखाय।
अतीन्द्रिय स्वाधीन सुखसागर, सहज लहराय।।
अविरल निमग्न रहूँ अहो, दीखे नहीं संसार।। कह सकूँ नहीं....।।
आत्मीक वैभव अलौकिक, दिखे अखय अनन्त।
जयवन्त होवे स्वानुभूति, सत्य मुक्तिपंथ।।
स्वानुभव में ही दिखे, शिवरूप मंगलकार।। कह सकूँ नहीं....।।
ज्ञानमय निज स्वाद पाया, और कुछ न सुहाय।
संकल्प और विकल्प मिथ्या, लगें सब दुखदाय।।
प्रगट हो निर्ग्रन्थ पद, आनन्दमय अविकार।।कह सकूँ नहीं....।।
वन माँहि नित निर्विघ्न, आराधूँ सहज परमात्म।
स्वप्न में भी सहज वर्ते, अहो निज शुद्धात्म।।

खिन्नता किंचित् न हो गर मिले नहीं आहार।
कह सकूँ नहीं हुआ मोहि, आनन्द अपरम्पार।।
सहज समताभाव हो, ज्ञाता रहूँ निरपेक्ष।
देवांगनाएँ भी न चित्त में, कर सकें विक्षेप।।
निर्दोष ज्ञान-विरागमय, चर्या हो निरतिचार।। कह सकूँ नहीं....।।
रंचमात्र न पापमय, होवे प्रवृत्ति कदापि।
पदयोग्य हों शुभ भाव भी, उनसे विरक्ति तथापि।।
शुद्धोपयोगी सहज परिणति, होय मंगलकार।। कह सकूँ नहीं....।।
सातिशय अप्रमत्त सप्तम, अधःकरण निवार।
हो अपूर्वकरण तथा, अनिवृत्तिकरण सुखकार।।
सूक्ष्मलोभ भी नष्ट हो, वीतरागता अविकार।। कह सकूँ नहीं....।।
नशि जाय त्रेसठ प्रकृति हो, अरहंत पद अविकार।
तीर्थ का होवे प्रवर्तन, जगत में सुखकार।।
पुनि घाति शेष अघातिया हो, लहूँ शिवपद सार।। कह सकूँ नहीं....।।
नहीं अपेक्षा अब किसी की, सहज मिलि हैं योग।
सहज-जीवन सहज-साधन, सहज-भाव मनोग।।
मुक्ति ही मानो मिली जब मिला जाननहार।। कह सकूँ नहीं....।।

(130) बाईस परीषह

(चौपाई)

विषयारम्भ परिग्रह त्यागी, ज्ञान-ध्यान में परिणति पागी।
वे मुनिवर सबको सुखदाई, परिषहजय की करूँ बड़ाई।।

1. क्षुधा परीषह

भूख लगे आहार न पाय, अनाहारी चिद्रूप लखाय।
ज्ञानामृत भोजी मुनिराय, सहें परीषह शिवसुखदाय।।

2. तृषा परीषह

तृषा सतावे कोपे पित्त, नहीं दीनता लावें चित्त।
भेदज्ञान करते मुनिराय, समता रस से तृप्त रहाय।।

3. शीत परीषह

अस्पर्शी ज्ञायक भगवान, ध्यावें साधु परम सुखखान।
शीत परीषह से नहीं डरें, निरावरण निर्भय नित रहें।।

4. उष्ण परीषह

रहते आत्म गुफा के माँहि, मोह ताप जिनके उर नाहिं।
सहज शान्त समता के धनी, उष्ण परीषह जीतें मुनी।।

5. डंसमशक परीषह

डंसमशक जब तन में लगें, ज्ञानरूप में मुनिवर पगें।
बहे ज्ञानधारा उर माँहि, परीषह में उपयोग सु नाहिं।।

6. नग्न परीषह

निर्विकार शोभे परिणाम, यथाजात तनरूप ललाम।
ध्यावें अपने को अशरीर, नग्न परीषह जीतें वीर।।

7. अरति परीषह

पापोदय का कार्य विचार, वर्तें सहजहिं जाननहार।
अरति तजैं संयम दृढ़ रहैं, वे मुनि कर्म कालिमा दहैं।।

8. स्त्री परीषह

स्वानुभूति रमणी में तृप्त, करे न नारी चित संतृप्त।
ब्रह्मचर्य से चिगें न लेश, परमधीर मुनिवर जगतेश।।

9. चर्या परीषह

अनियत वासी करैं विहार, ईर्या समिति सहित अविकार।
चर्या परीषह सों नहिं डरें, मुक्तिमार्ग जग में विस्तरें।।

10. आसन परीषह

अंतर समता से नहिं चिगें, बाहर आसन से नहिं डिगें।
धनि मर्यादा पालन-हार, धर्मतीर्थ विस्तारन-हार।।

11. शयन परीषह

भूमि काष्ठ पाषाण पै सोवें, सावधान नहिं गाफिल होवें।
निद्रा अल्प न करवट फेरें, अन्तर्मुख हो निजपद हेरें।।

12. आक्रोश परीषह

सुन दुर्वचन क्षमा उर लावें, ज्ञानी मुनि आक्रोश न आवे।
धन्य-धन्य सबके उपकारी, वन्दनीय चैतन्य-विहारी।।

13. बध-बंधन परीषह

पापोदय में कोई मारे, बांधे अग्नि में परजारे।
तहाँ तपोधन क्षोभ न करते, ध्यान विपाकविचय वे करते।।

14. याचना परीषह

निज में ही संतुष्ट यतीश्वर, पर की चाह न करते गुरुवर।
नहीं औषधि भी वे याचें, परम विरक्त शान्त रस राचें।।

15. अलाभ परीषह

पर से लाभ न हानि मानें, सहज पूर्ण प्रभुता पहिचानें।
पर–अलाभ प्रति सहज उपेक्षा, भावें वे द्वादश अनुप्रेक्षा।।

16. रोग परीषह

रोगादिक देहाश्रित जानें, कायर होकर दुःख नहिं मानें।
तप से कर्म निर्जरित करते, क्लेश जगत के भी वे हरते।।

17. तृणस्पर्श परीषह

काँटे आदि पैर में लगते, उड़कर, आँखों में भी चुभते।
फिर भी पर–सहाय नहीं चाहें, सहज ज्ञानसिन्धु अवगाहें।।

18. मल परीषह

आजीवन स्नान न करते, मलिन देह को भिन्न सु लखते।
निर्मल आतम सदा निहारें, निर्मल सहज परिणति धारें।।

19. सत्कार–पुरस्कार परीषह

नहीं सत्कार चाहें मुनि–ज्ञानी, निजपर रीति भिन्न पहिचानी।
तिरस्कार नहिं करें किसी का, प्रभुतारूप लखें सबही का।।

20. प्रज्ञा परीषह

ज्ञान विशिष्ट उग्र तप धारें, वादी देख हार स्वीकारें।
महाविनय मुनि तदपि सु धारें, निजरत्नत्रय निधि विस्तारें।।

21. अज्ञान परीषह

जब क्षयोपशम मंद जु होवे, शक्ति ज्ञान विशेष न होवे।
भेदज्ञान से सुतप बढ़ावें, सहज पूर्ण शुद्धातम ध्यावें।।

22. अदर्शन परीषह

जो ऋद्धि अतिशय नहीं होवें, तो भी निजश्रद्धा नहीं खोवें।
तत्त्व विचार सहज ही करते, शुद्ध स्वरूप चित्त में धरते।।
ऐसे मुनिवर को सिर नावें, साक्षात् दर्शन कब पावें।
यही भाव मन माँहि आवे, धनि निर्ग्रन्थ दशा प्रगटावें।।
विषयों की अब नहीं कामना, शाश्वत पद की करूँ साधना।
निजानन्द में तृप्त रहूँ मैं, अक्षय प्रभुता प्रगट करूँ मैं।।

(131) अपूर्व अवसर

आवे कब अपूर्व अवसर जब, बाह्यान्तर होऊँ निर्ग्रन्थ।
सब सम्बन्धों के बन्धन तज, विचरूँ महत् पुरुष के पंथ।। 1।।
सर्व-भाव से उदासीन हो, भोजन भी संयम के हेतु।
किंचित् ममता नहीं देह से, कार्य सभी हों मुक्ति सेतु।। 2।।
प्रगट ज्ञान मिथ्यात्व रहित से, दीखे आत्म काय से भिन्न।
चरितमोह भी दूर भगाऊँ, निज स्वभाव का ध्यान अछिन्न।। 3।।
जबतक देह रहे तब तक भी, रहूँ त्रिधा मैं निज में लीन।
घोर परीषह उपसर्गों से, ध्यान न होवे मेरा क्षीण।। 4।।
संयम हेतु योग प्रवर्तन, लक्ष्य स्वरूप जिनाज्ञाधीन।
क्षण-क्षण चिन्तन घटता जावे, होऊँ अन्त ज्ञान में लीन।। 5।।
राग-द्वेष ना हो विषयों में, अप्रमत्त अक्षोभ सदैव।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव से, विचरण हो निरपेक्षित एव।। 6।।
क्रोध प्रति मैं क्षमा संभारूँ, मान तजूँ मार्दव भाऊँ।
माया को आर्जव से जीतूँ, वृत्ति लोभ नहिं अपनाऊँ।। 7।।

उपसर्गों में क्रोध न तिलभर, चक्री वन्दे मान नहीं।
देह जाय किञ्चित् नहिं माया, सिद्धि का लोभ निदान नहीं।। 8।।
नगन वेष अरु केशलोंच, स्नान दन्त धोवन का त्याग।
नहीं रुचि शृङ्गार प्रति, निज संयम से होवे अनुराग।। 9।।
शत्रु-मित्र देखूँ न किसी को, मानामान में समता हो।
जीवन-मरण दोऊ सम देखूँ, भव-शिव में न विषमता हो।। 10।।
एकाकी जंगल मरघट में, हो अडोल निजध्यान धरूँ।
सिंह व्याघ्र यदि तन को खायें, उनमें मैत्रीभाव धरूँ।। 11।।
घोर तपश्चर्या करते, आहार अभाव में खेद नहीं।
सरस अन्न में हर्ष न रजकण, स्वर्ग-ऋद्धि में भेद नहीं।। 12।।
चारित मोह पराजित होवे, आवे जहाँ अपूर्वकरण।
अनन्य चिन्तन शुद्धभाव का, क्षपक-श्रेणि पर आरोहण।। 13।।
मोह-स्वयंभूरमण पार कर, क्षीणमोह गुणस्थान वरूँ।
ध्यान शुक्ल एकत्व धार कर, केवलज्ञान प्रकाश करूँ।। 14।।
भव के बीज घातिया विनशें, होऊँ मैं कृतकृत्य तभी।
दर्श ज्ञान सुख बल अनन्तमय, विकसित हों निजभाव सभी।। 15।।
चार अघाती कर्म जहाँ पर, जली जेबरी भाँति रहें।
आयु पूर्ण हो मुक्त दशा फिर, देह मात्र भी नहीं रहे।। 16।।
मन-वच-काया-कर्मवर्गणा, के छूटें सब ही सम्बन्ध।
सूक्ष्म अयोगी गुणस्थान हो, सुखदायक अरु पूर्ण अबन्ध।। 17।।
परमाणु मात्र स्पर्श नहीं हो, निष्कंलक अरु अचल स्वरूप।
चैतन्य मूर्ति शुद्ध निरंजन, अगुरुलघु बस निजपद रूप।। 18।।

पूर्व प्रयोगादिक कारण वश, ऊर्ध्वगमन सिद्धालय तिष्ठ।
सादि अनन्त समाधि सुख में, दर्शन ज्ञान चरित्र अनन्त।। 19।।
जो पद श्री सर्वज्ञ ज्ञान में, कह न सके पर श्री भगवान।
वह स्वरूप फिर अन्य कहे को, अनुभवगोचर है वह ज्ञान।। 20।।
मात्र मनोरथ रूप ध्यान यह, है सामर्थ्य हीनता आज।
'रायचन्द्र' तो भी निश्चय मन, शीघ्र लहूँगा निजपद राज।। 21।।
सहज भावना से प्रेरित हो, हुआ स्वयं ही यह अनुवाद।
शब्द अर्थ की चूक कहीं हो, सुधी सुधार हरो अवसाद।। 22।।

(132) बारह भावना-1

(दोहा)

निज स्वभाव की दृष्टि धर, बारह भावन भाय।
माता है वैराग्य की, चिन्तत सुख प्रकटाय।।

1. अनित्य भावना

मैं आत्मा नित्य स्वभावी हूँ, ना क्षणिक पदार्थों से नाता।
संयोग-शरीर-कर्म-रागादिक, क्षणभंगुर जानो भ्राता।।
इनका विश्वास नहीं चेतन, अब तो निज की पहिचान करो।
निज ध्रुव स्वभाव के आश्रय से ही, जन्मजरामृत रोग हरो।।

2. अशरण भावना

जो पाप बन्ध के हैं निमित्त, वे लौकिक जन तो शरण नहीं।
पर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु भी, अवलम्बन हैं व्यवहार सही।।
निश्चय से वे भी भिन्न अहो! उन सम निज लक्ष्य करो आत्मन्।
निज शाश्वत ज्ञायक ध्रुव स्वभाव ही, एक मात्र है अवलम्बन।।

3. संसार भावना

ये बाह्य लोक संसार नहीं, ये तो मुझ सम सत् द्रव्य अरे।
नहिं किसी ने मुझको दुःख दिया, नहिं कोई मुझको सुखी करे।।
निज मोह राग अरु द्वेष भाव से, दुख अनुभूति की अबतक।
अतएव भाव संसार तजूँ, अरु भोगूँ सच्चा सुख अविचल।।

4. एकत्व भावना

मैं एक शुद्ध निर्मल अखण्ड, पर से न हुआ एकत्व कभी।
जिनको निज मान लिया मैंने, वे भी तो पर प्रत्यक्ष सभी।।
नहीं स्व-स्वामी सम्बन्ध बने, माना वह भूल रही मेरी।
निज में एकत्व मान कर के, अब मेटूँगा भव-भव फेरी।।

5. अन्यत्व भावना

जो भिन्न चतुष्टय वाले हैं, अत्यन्ताभाव सदा उनमें।
गुण पर्यय में अन्यत्व अरे!, प्रदेशभेद नहिं है जिनमें।।
इस सम्बन्धी विपरीत मान्यता से, संसार बढ़ाया है।
निज तत्त्व समझ में आने से, समरस निज में ही पाया है।।

6. अशुचि भावना

है ज्ञानदेह पावन मेरी, जड़देह राग के योग्य नहीं।
यह तो मलमय मल से उपजी, मल तो सुखदायी कभी नहीं।।
भो आत्मन् श्री गुरु ने, रागादिक को अशुचि अपवित्र कहा।
अब इनसे भिन्न परम पावन, निज ज्ञानस्वरूप निहार अहा।।

7. आस्रव भावना

मिथ्यात्व कषाय योग द्वारा, कर्मों को नित्य बुलाया है।
शुभ-अशुभभाव क्रिया द्वारा, नित दुख का जाल बिछाया है।।
पिछले कर्मोदय में जुड़कर, कर्मों को ही छोड़ा बाँधा।
ना ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहा, अब तक शिवमार्ग नहीं साधा।।

8. संवर भावना

मिथ्यात्व अभी सत् श्रद्धा से, व्रत से अविरति का नाश करूँ।
मैं सावधान निज में रहकर, निःकषाय भाव उद्योत करूँ।।
शुभ-अशुभ योग से भिन्न, आत्म में निष्कम्पित हो जाऊँगा।
संवरमय ज्ञायक आश्रय कर, नव कर्म नहीं अपनाऊँगा।।

9. निर्जरा भावना

नव आस्रव पूर्वक कर्म तजे, इससे बन्धन न नष्ट हुआ।
अब कर्मोदय को ना देखूँ, ज्ञानी से यही विवेक मिला।।
इच्छा उत्पन्न नहीं होवे, बस कर्म स्वयं झड़ जावेंगे।
जब किञ्चित् नहीं विभाव रहें, गुण स्वयं प्रगट हो जावेंगे।।

10. लोक भावना

परिवर्तन पंच अनेक किये, सम्पूर्ण लोक में भ्रमण किया।
ना कोई क्षेत्र रहा ऐसा, जिस पर ना हमने जन्म लिया।।
नरकों स्वर्गों में घूम चुका, अतएव आस सबकी छोड़ूँ।
लोकाग्र शिखर पर थिर होऊँ, बस निज में ही निज को जोड़ूँ।।

11. बोधिदुर्लभ भावना

सामग्री सभी सुलभ जग में, बहुबार मिली छूटी मुझसे।
कल्याणमूल रत्नत्रय परिणति, अब तक दूर रही मुझसे।।
इसलिए न सुख का लेश मिला, पर में चिरकाल गँवाया है।
सद्बोधि हेतु पुरुषार्थ करूँ, अब उत्तम अवसर पाया है।।

12. धर्म भावना

शुभ-अशुभ कषायों रहित होय, सम्यक्चारित्र प्रगटाऊँगा।
बस निज स्वभाव साधन द्वारा, निर्मल अनर्घ्यपद पाऊँगा।।
माला तो बहुत जपी अब तक, अब निज में निज का ध्यान धरूँ।
कारण परमात्मा अब भी हूँ, पर्यय में प्रभुता प्रकट करूँ।।
दोहा - ध्रुव स्वभाव सुखरूप है, उसको ध्याऊँ आज।
दुखमय राग विनष्ट हो, पाऊँ सिद्ध समाज।।

(133) बारह भावना-2

(दोहा)

ज्ञानमात्र शाश्वत प्रभो, समयसार अविकार।
जन्म-मरण जामें नहीं, निर्भय तत्त्व विचार।। 1।।
जग में कोई नहीं शरण, सोच तजो दुःखकार।
चिन्मय ध्रुव निज शरण ले, जावे भव से पार।। 2।।
कहूँ न सुख संसार में, आतम सुख की खान।
निज आतम में लीन हो, भोगो सुख अम्लान।। 3।।
उपजे विनशे परिणति, आतम है ध्रुव रूप।
विलसे प्रतिक्षण एक सम, यह एकत्व स्वरूप।। 4।।

जहाँ न भेद विकल्प है, पर्यायें भी भिन्न।
कर्मादिक में मोह कर, तू क्यों होवे खिन्न।।5।।
अशुचि देह सों ममत तज, पावन आतम जान।
निज स्वभाव साधन करे, पहुँचे शिवपुर थान।। 6।।
सत्गुरु रहे जगाय, मूढ़ जीव तोहू न जगे।
करे नहीं पुरुषार्थ, दोष देय नित कर्म को।। 7।।
ज्ञान सूर्य के जोर, ज्ञानीजन जागें सदा।
जिनका ओर न छोर, शक्ति अनन्तों उछलती।। 8।।
निज चैतन्य प्रकाश में, कर्म दिखे अति दूर।
शुद्ध परिणति में रहे, बहता समता नीर।। 9।।
अतीन्द्रिय की शरण ही, इन्द्रियजय कहलाय।
व्रत समीति गुप्ति सभी, साम्यभाव पर्याय।। 10।।
आलोकित निज लोक हो, लोकालोक दिखाय।
तब लोकान्त सुथिर बने, चहुँगति भ्रमण मिटाय।। 11।।
धन-कन-कंचन राजसुख, पराधीन सब जान।
सहज प्राप्त स्वाधीन नित, सुखमय आतमज्ञान।। 12।।
आत्मस्वभाव ही धर्म है, सम्यग्दर्शन मूल।
बाहर में क्यों ढूँढ़ते, निजस्वभाव को भूल।। 13।।

(134) दशधर्म द्वादशी

अहो! दशलक्षण धर्म महान, अहो दशलक्षण धर्म महान,
धर्म नहीं दशरूप एक, वीतराग-भावमय जान।
सम्यग्दर्शन सहित परम, आनन्दमय उत्तम मान।। टेक।।

तत्त्वदृष्टि से देखें जग में, इष्ट–अनिष्ट न कोई,
सुख–दुख–दाता–मित्र–शत्रु की, व्यर्थ कल्पना खोई।
स्वयं–स्वयं में सहज प्रगट हो, क्षमाभाव अम्लान।।
अहो! दशलक्षण धर्म महान, अहो! दशलक्षण धर्म महान।। 1।।
जो दीखे सब ही क्षणभंगुर, किसका मान करें,
पल में छोड़ हमें चल देता, अपना जिसे कहें।
ज्ञानमात्र आतम–अनुभवमय, प्रगटे मार्दव आन।। अहो...।। 2।।
कौन किसे ठगता इस जग में, अरे! स्वयं ठग जाय,
पर्ययमूढ़ हुआ मूरख, विषयों में काल गँवाय।
भेदज्ञान कर अंतरंग में, हो आर्जव सुखखान। अहो...।। 3।।
अशुचिरूप मिथ्यात्व कषायें तज, विवेक उर लावें,
व्यसन, पाप, अन्याय, अभक्ष्य को, त्याग पात्रता पावें।
परमशुद्ध आतम–अनुभव ही शौचधर्म पहिचान।। अहो...।। 4।।
गर्हित निंद्य और हिंसामय, भाव वचन परिहार,
परम सत्य ध्रुव ज्ञायक जानो, अभूतार्थ व्यवहार।
ज्ञायकमय अनुभूति लीनता, सत्यधर्म अभिराम।। अहो...।। 5।।
अहो अतीन्द्रिय शुद्धातम सुख, ज्ञान अतीन्द्रिय जान,
इन्द्रिय विषय–कषायें जीतो, हो हिंसा की हानि।
आत्मलीनतामय संयम से ही पावें शिवधाम।। अहो...।। 6।।
अनशनादि बहिरंग प्रायश्चित, आदि अंतरंग जान,
निजस्वरूप में विश्रान्ति, इच्छानिरोध तप मान।
तप अग्नि प्रज्वलित होय तब, जलें कर्म दुःखखान।। अहो...।। 7।।

सर्प काँचली मात्र तजे से, ज्यों निर्विष नहीं होय।
केवल बाह्य-त्याग से त्यों ही, सुख शान्ति नहीं होय।।
मिथ्या राग-द्वेष को त्यागें, शुद्धभावमय दान।। अहो...।। 8।।
नहिं परमाणु मात्र भी अपना, सम्यक् श्रद्धा लावें,
मूर्च्छा भाव परिग्रह दुःखमय तज, शाश्वत सुख पावें।
स्वयं-स्वयं में पूर्ण अनुभवन, आकिंचन अम्लान।। अहो...।। 9।।
ब्रह्मस्वरूप सहज आनन्दमय, अकृत्रिम भगवान,
दूर रहे जहँ पुण्य-पापमय, भाव कुशीली म्लान।
ब्रह्मभावमय मंगलचर्या, ब्रह्मचर्य सुखखान।। अहो...।। 10।।
धर्मी शुद्धातम को जाने बिना धर्म नहीं होय,
अरे! अटक कर विषय-कषायों, में मत अवसर खोय।
कोटि उपाय बनाय भव्य अब करले आतमज्ञान।। अहो...।। 11।।
भावें नित वैराग्य भावना, धरें भेद-विज्ञान,
त्याग अडम्बर होय दिगम्बर, ठानें निर्मल ध्यान।
धर्ममयी श्रेणी चढ़ जावें, बनें सिद्ध भगवान।। अहो...।। 12।।

(135) दशलक्षण धर्म का मर्म

(सोरठा)

क्षमा भाव अविकार, स्वाश्रय से प्रकटे सुखद।
आनन्द अपरम्पार, शत्रु न दीखे जगत में।। 1।।
मार्दव भाव सुधार, निज रस ज्ञाननंदमय।
वेदूँ नित अविकार, नहीं मान नहीं दीनता।। 2।।

सरल स्वभावी होय, अविनाशी वैभव लहूँ।
वांछा रहे न कोय, माया शल्य विनष्ट हो।। 3।।
परम पवित्र स्वभाव, अविरल वर्ते ध्यान में।
नाशें सर्व विभाव, सहजहिं उत्तम शौच हो।। 4।।
सत्स्वरूप शुद्धात्म, जानूँ मानूँ आचरूँ।
प्रकटे पद परमात्म, सत्य धर्म सुखकार हो।। 5।।
संयम हो सुखकार, अहो! अतीन्द्रिय ज्ञानमय।
उपजें नहीं विकार, परम अहिंसा विस्तरे।। 6।।
निज में ही विश्राम, जहाँ कोई इच्छा नहीं।
ध्याऊँ आतमराम, उत्तम तप मंगलमयी।। 7।।
परभावों का त्याग, सहज होय आनन्दमय।
निज स्वभाव में पाग, रहूँ निराकुल मुक्त प्रभु।। 8।।
सहज अकिंचन रूप, नहीं परमाणु मात्र मम।
भाऊँ शुद्ध चिद्रूप, होय सहज निर्ग्रंथ पद।। 9।।
परम ब्रह्म अम्लान, ध्याऊँ नित निर्द्वन्द्व हो।
ब्रह्मचर्य सुख खान, पूर्ण होय आनंदमय।।10।।
एक रूप निज धर्म, दशलक्षण व्यवहार से।
स्वाश्रय से यह मर्म, जाना ज्ञान विरागमय।। 11।।

(136) दशलक्षण धर्म गाथा

क्रोध है दुःखमय, निज क्षमा शान्तिमय।
क्रोध निज को जलाये, क्षमा मुक्ति है।। 1।।
मान से हो अधोगति, जगत में सदा।
मान है भव भ्रमण, मार्दव मुक्ति है।। 2।।
मायाचारी से तिर्यञ्च, नारीपना।
माया अतिक्लेशमय, आर्जव मुक्ति है।। 3।।
झूठ वादी का विश्वास, सब ही तजें।
झूठ तो दुःखमय, सत्य ही मुक्ति है।। 4।।
लोभ तो पापमय, नरक का हेतु है।
लोभ संताप है, शौच ही मुक्ति है।। 5।।
होती तृष्णा असंयम से अति तीव्र है।
है असंयम करम, संयम ही मुक्ति है।। 6।।
शान्ति तप से मिले, इच्छा दुःख मूल है।
तप बिना जग रुले, उत्तम तप मुक्ति है।। 7।।
ग्रहण भावक लघु, दान-दाता गुरु।
ग्रहण से बन्ध है, त्याग ही मुक्ति है।। 8।।
पर को निज में मिलाना ही संसार है।
व्यर्थ चिन्ता बुरी, आकिंचन मुक्ति है।। 9।।
भोग हैं नाग सम, दुःखदायी सदा।
ब्रह्म है सुखमय, ब्रह्मचर्य मुक्ति है।। 10।।

धर्म दशधा कहे, मात्र व्यवहार से।
लक्ष्य इनका तजो, निज में ही लीन अब।। 11।।
राग ही मूल है सब दुःखों का सही।
शुद्ध आत्मा लखो, जो सहज मुक्ति है।। 12।।

(137) ब्रह्मचर्य विंशतिका

है परम धर्म ब्रह्मचर्य धर्म, इसमें सब धर्म समाते हैं।
जितने लगते दोष यहाँ, वे सब कुशील में आते हैं।। टेक।।
जो ब्रह्मचर्य पालन करते, दुःख पास न उनके आते हैं।
जो भोगों में आसक्त हुए, वे दुःख को स्वयं बुलाते हैं।। 1।।
भोगों की दाता स्त्री है, पंचेन्द्रिय भोग जुटाती है।
इक बूँद और की आशा में, भोले नर को अटकाती है।। 2।।
स्पर्शन में कोमल शैया, ठंडा-जल गरम-नरम भोजन।
रसना को सरस प्रदान करे, शुभ गंध घ्राण के हेतु सृजन।। 3।।
चक्षु को हाव-भाव दर्शन, अरु राग वचन दे कानों को।
हरती मन को बहु ढंगों से, संक्लेश करे अनजानों को।। 4।।
भोले जो विषयासक्त पुरुष, वे स्त्री में फँस जाते हैं।
मल माया की साक्षात् मूर्ति, अस्पृश्य जिसे मुनि गाते हैं।। 5।।
स्त्री की काँख नाभि योनि, अरु स्तन के स्थानों में।
सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंख्यात जीव प्रतिसमय मरें।। 6।।
श्री गुरु तो यहाँ तक कहते हैं, अच्छा नागिन का आलिंगन।
पर नहीं रागमय-दृष्टि से, नारी के तन का भी निरखन।। 7।।

संसार-चक्र की धुरी अरे, बस नारी को बतलाया है।
आधे माँ आधे पत्नी से, नाते प्रत्यक्ष दिखाया है।। 8।।
यदि स्त्री से विमुक्त देखो, तो नहीं किसी से भी नाता।
भोगेच्छा भी नहीं रहने से, तन-पुष्टि राग भी भग जाता।। 9।।
जग में हैं पुरुष अनेक भरे, जो असि के तीक्षण वार सहें।
अति क्रूर केहरी वश करते, मतवाले गज से नहीं डरें।। 10।।
पर वे तो वीर नहीं भाई, स्त्री कटाक्ष से हार गये।
हैं महावीर वे ही जग में, जो निर्विकार उस समय रहे।। 11।।
यह तो निमित्त का कथन मात्र, है दोष नहीं कुछ नारी का।
है दोष स्वयं की दृष्टि का, पुरुषार्थ शिथिलता भारी का।। 12।।
यदि ज्ञान दृष्टि से देखो तो, परद्रव्य नहीं कुछ करता है।
पर लक्ष्य करे खुद अज्ञानी, अरु व्यर्थ दुःख में पड़ता है।।13।।
पर को अपना स्वामी माने, खुद को आधीन समझता है।
सुख हेतु प्रतिसमय क्लेशित हो, अनुकूल प्रतीक्षा करता है।। 14।।
प्रतिकूलों के प्रति क्षोभ करें, नित आर्तध्यान में लीन रहें।
दुःखदाई ऐसे क्रूर भाव को, ज्ञानी स्त्रीपना कहें।। 15।।
इन परभावों को ही कुशील, जिन-आगम में बतलाया है।
पुण्यभाव भी निश्चय से, दुःखमय कुशील ही गाया है।। 16।।
है ब्रह्म नाम आतम स्वभाव, उसमें रहना ब्रह्मचर्य कहा।
व्यवहार भेद अठारह हजार, निश्चय अभेद सुखकार महा।। 17।।
अतएव भ्रात ब्रह्मचर्य धरो, नव-बाढ़ शील की पालो तुम।
अतिचार पंच भी तजकर के, अनुप्रेक्षा पंच विचारो तुम।। 18।।

निश्चय ही जीवन सफल होय, आकुलता दूर सभी होगी।
विश्राम मिले निज में निश्चय, अक्षय-पद की प्राप्ति होगी।। 19।।

(दोहा)

ब्रह्मचर्य सुखमय सदा, निश्चय आत्मस्वभाव।
पावनता स्वयमेव हो, मिटते सभी विभाव।। 20।।

(138) ब्रह्मचर्य द्वादशी

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, आज बताऊँ भली-भली।
ब्रह्मचर्य बिन जीवन निष्फल, बात कहूँ मैं खरी-खरी।। टेक।।
निज सुख शान्ति निज में ही है, बाहर कहीं न पाओगे।
व्यर्थ भ्रमे हो और भ्रमोगे, समय चूक पछताओगे।।
भोगों में तो फँस कर भाई, तुमने भारी विपद भरी।। ब्रह्म.।। 1।।
जैसे बड़ी-बड़ी नदियों पर, बाँध बँधे देखे होंगे।
सोचो बाँध टूट जावे तो, क्यों नहीं नगर नष्ट होंगे।।
ब्रह्मचर्य का बाँध टूटने से, बरबादी घड़ी-घड़ी।। ब्रह्म.।। 2।।
भोगों का घेरा ऐसा है, बाहर वाले ललचावें।
फँसने वाले भी पछतावें, सुख नहीं कोई पावे।।
धोखे में आवे नहीं ज्ञानी, शुद्धातम की प्रीति धरी।। ब्रह्म.।। 3।।
पहले तो मिलना ही दुर्लभ, मिल जावें तो भोग कठिन।
भोगों से तृष्णा ही बढ़ती, इनसे होना तृप्ति कठिन।।
पाप कमावे धर्म गमावे, घूमे भव की गली-गली।। ब्रह्म.।। 4।।
बत्ती तेल प्रकाश नाश ज्यों, दीपक धुँआ उगलता है।
रत्नत्रय को नाश मूढ़, भोगों में फँसकर हँसता है।।
सन्निपात का ही यह हँसना, सन्मुख जिसके मौत खड़ी।। ब्रह्म.।। 5।।

सर्वव्रतों में चक्रवर्ती अरु, सब धर्मों में सार कहा।
अनुपम महिमा ब्रह्मचर्य की, शिवमारग शिवरूप अहा।।
ब्रह्मचर्य धारी ज्ञानी के, निजानन्द की झरे झड़ी।
ब्रह्मचर्य बिन जीवन निष्फल, बात कहूँ मैं खरी-खरी।। 6।।
पर-स्त्री संग त्याग मात्र से, ब्रह्मचर्य नहिं होता है।
पंचेन्द्रिय के विषय छूट कर, निज में होय लीनता है।।
अतीचार जहाँ लगे न कोई, ब्रह्म भावना घड़ी-घड़ी।। ब्रह्म.।। 7।।
सर्व कषायें अब्रह्म जानो, राग कुशील कहा दुखकार।
सर्व विकारों की उत्पादक, पर-दृष्टि ही महा विकार।।
द्रव्यदृष्टि शुद्धात्म लीनता, ब्रह्मचर्य सुखकार यही।। ब्रह्म.।।8।।
सबसे पहले तत्त्वज्ञान कर, स्व-पर भेद-विज्ञान करो।
निजानन्द का अनुभव करके, भोगों में सुखबुद्धि तजो।।
कोमल पौधे की रक्षा हित, शील बाढ़ नौ करो खड़ी।। ब्रह्म.।। 9।।
समता रस से उसे सींचना, सादा जीवन तत्त्व-विचार।
सत्संगति अरु ब्रह्म भावना, लगे नहिं किंचित् अतिचार।।
कमजोरी किंचित् नहीं लाना, बाधायें हों बड़ी-बड़ी।। ब्रह्म.।। 10।।
मर्यादा का करें उल्लंघन, जग में भी संकट पावें।
निज मर्यादा में आते ही, संकट सारे मिट जावें।।
निजस्वभाव सीमा में आओ, पाओ अविचल मुक्ति मही।। ब्रह्म.।।11।।
चिंता छोड़ो स्वाश्रय से ही, सर्व विकल्प नशायेंगे।
कर्म छोड़ खुद ही भागेंगे, गुण अनन्त प्रगटायेंगे।।
'आत्मन्' निज में ही रम जाओ, आई मंगल आज घड़ी।। ब्रह्म.।।12।।

(139) ब्रह्मचर्य ध्रुव ब्रह्ममयी

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, सुनो भव्य कल्याणमयी।
जिससे कटती भव की संतति, दुःखमयी अज्ञानमयी।।टेक।।
परमब्रह्म शाश्वत परमातम, नित्य निरंजन देव है।
सहजज्ञानमय सहजानन्दमय, सहजमुक्त स्वयमेव है।।
निर्विकल्प आह्लादरूप हो, स्वानुभूति आनन्दमयी।। जिससे..।। 1।।
सहज तृप्त हो सहज तुष्ट हो, सहज दृष्टि टिक जाती है।
सर्व समर्पण हो आतम प्रति, सहज मग्नता होती है।।
परिणति में यह ध्रुव प्रियतम का, मिलन परम आनन्दमयी।। जिससे..।।2।।
ज्ञायक में अपनत्व हुआ फिर, ज्ञेय भिन्न दिखलाते हैं।
चाहे जैसे सुन्दर होवें, मोह नहीं उपजाते हैं।।
जीवन निर्विकार हो जाता, सहज शुद्ध चिद्रूपमयी।
जिससे कटती भव की संतति, दुःखमयी अज्ञानमयी।। 3।।
सतत् सदा ही स्वयं स्वयं में, सहज ही अमृत झरता है।
शुद्ध चेतना का विलास ही, सहज अनन्त पसरता है।।
भेद विकल्प भी नहीं उपजावे, चर्या होवे ब्रह्ममयी।। जिससे..।।4।।
अक्षय अद्भुत प्रभुता प्रगटे, नशते सर्व विभाव हैं।
सहज अलौकिक शुद्ध चेतनामयी होय सब भाव हैं।।
नित्य शुद्ध शाश्वत वैभव है, साम्राज्य है ज्ञानमयी।। जिससे..।। 5।।
धन्य-धन्य निर्मोही हो, निर्ग्रन्थ होयकर कल्याणी।
जीवराज को वरण किया है, परिणति हुई मुक्ति रानी।।
तिहुँ जगमाँहि पूज्य हुई है, स्वयं सहज ही मुक्तिमयी।। जिससे..।।6।।

आत्मविमुख हो पर को देखे, वह तो मूढ़ गंवार रे।
भोग-वासनाओं में फँसकर, घूमे बहु संसार रे।।
सर्व समागम आज मिला है, छोड़ो परिणति रागमयी।। जिससे.. ।।7।।
चेतो चेतन अब भी अवसर, पर का कोई दोष नहीं।
भूल तजो हठ छोड़ो भाई, मिले न पर में तोष कहीं।।
जानो, मानो, सदा आचरो, तत्त्व सहज आनन्दमयी।। जिससे.. ।।8।।
पड़े नहीं पीछे पछताना, इसीलिए पहले सोचो।
परमसत्य शिवमय सुन्दरतम, परमब्रह्म अन्तर देखो।।
धारो-धारो सारभूत दृढ़, ब्रह्मचर्य ध्रुव ब्रह्ममयी।। जिससे.. ।। 9।।

(140) षोड़श कारण विंशतिका

भावना सहज होय स्वामी, भावना सहज होय स्वामी।
स्वयं स्वयं में मग्न रहूँ, तुम-सम त्रिभुवन नामी।। टेक।।
नहीं स्वप्न में भी अपना, परमाणुमात्र भासे,
सदा सहज अनुभूतिरूप, आतम ही प्रतिभासे।
एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप परमानन्दमय आतम,
स्वयंसिद्ध शाश्वत परमातम जाना शुद्धातम।।1।।
निरतिचार निर्मल सम्यग्दर्शन वर्ते सुखमय,
निजस्वभाव में सहज निःशंकित निर्वाञ्छक निर्भय।
ज्ञेयमात्र ही रहें ज्ञेय, नहीं ग्लानि उपजावे,
तत्त्वदृष्टि हो दोषों प्रति, मध्यस्थ न द्वेष आवे।। 2।।
चित्त-चंचलता मिटे स्वयं में ही थिरता पाऊँ,
वात्सल्य से आतम ही उत्कृष्टपने भाऊँ।

भेदज्ञान हो मद नहीं उपजे महाक्लेशकारी,
दैन्य और अभिमान रहित हो जीवन हितकारी।।3।।
तीन मूढ़ता षट् अनायतन नहिं आयें मन में,
प्रभु निर्मूढ़ प्रवृत्ति होवे, चिदानन्दघन में।
नहीं वृत्ति हो लोकनिंद्य या धर्मनिंद्य प्रभुवर,
धर्मप्रभावक मंगलदायक हो वृत्ति जिनवर।।4।।
विनयवंत भगवंत कहावें, नहीं पर माँहि झुकें,
वे ही हैं आदर्श जगत में सब दुख द्वन्द्व मिटें।
अविनय नहीं हो पाय किसी की, विनय योग्य होवे,
आत्मविनतता रूप विनय निश्चय सब दुख खोवे।। 5।।
दृष्टा-ज्ञाता रहूँ शील अंतर में प्रगटावे,
भोगूँ निजानन्दरस अविरल नहिं विकल्प आवे।
अपनी मर्यादा में रहकर ध्रुव प्रभुता पाऊँ,
ब्रह्मचर्य की होय पूर्णता निजपद प्रगटाऊँ।।6।।
भेदज्ञान की रहे भावना तब तक हे स्वामी,
ज्ञान-ज्ञान में होय प्रतिष्ठित शाश्वत सुखदानी।
हो अविच्छिन्न ज्ञानानुभूति दुर्वार मोह नाशे,
शुद्ध चेतना का प्रकाश स्वाभाविक परकाशे।। 7।।
रहा नहीं उत्साह शेष किंचित् पर-भावन में,
हौंस जगी है एक मात्र निज शिवपद साधन में।
सब संसार असार दुःखमय दुःखों का कारण,
धन्य घड़ी आतम आराधूँ, कर मुनिपद धारण।।8।।

अपनी शक्ति अपने में ही सहज प्रत्यक्ष दिखी,
वैभाविक परिणति अति दुःखमय सहजपने छूटी।
जीवन का क्षण-क्षण सार्थक हो धर्माराधन में,
सर्व समर्पण हो जावे जिनधर्म प्रभावन में।। 9।।
समझ न पाया व्यर्थहि चिर से पर में भरमाया,
धन्य हुआ अपने में ही विश्राम सहज पाया।
चाह नहीं कुछ शेष नाथ, निज में ही रम जाऊँ,
कर्म जलाऊँ तप-अग्नि में मुक्त दशा पाऊँ।। 10।।
सहयोगी होऊँ समाधि में साधु साधकों की,
रही नहीं परवाह प्रभो अब मुझे बाधकों की।
अखण्ड ज्ञानमय सहज भावना रूप समाधि को,
आनन्दपूर्वक धारण करके तजूँ उपाधि को।। 11।।
ज्ञानी गुरुओं की सेवा में ही तत्पर निश-दिन,
उन-सम ही वैराग्य बढ़ाऊँ मैं अपना क्षण-क्षण।
शुद्धातम की सेवा करते खेद नहीं पाऊँ,
हर्ष सहित धारूँ रत्नत्रय भव से तिर जाऊँ।। 12।।
धर्म पिता अरहंत जिनेश्वर साँची भक्ति करूँ,
झूठे विषय-कषाय त्याग कर क्षण-क्षण ध्यान धरूँ।
स्वानुभूति ही निश्चय भक्ति द्वैत विकल्प नहीं,
संकट-त्राता शिवसुख-दाता जाना सार यही।। 13।।
अहो संघनायक आचारज विज्ञानी-ध्यानी,
स्वयं आचरण करें-करायें सबको शिवदानी।

उनकी चरण शरण से हो निर्दोष चरण सुखमय,
बढ़ती जावे वीतरागता पाऊँ पद अक्षय।। 14।।
उपाध्याय गुरु पढ़ें-पढ़ावें संघ में जिनवाणी,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रकाशें मोह-तिमिर हानी।
तज एकान्त-पक्ष दुःखमय पक्षातिक्रान्त पावें,
फैले धर्म अहिंसा जग में आनन्द विलसावें।। 15।।
मंगलदायक श्री जिन-प्रवचन नित जग में गूँजें,
तत्त्वभावना के प्रसाद से सर्व पाप धूजें।
समयसार ही जिन-प्रवचन का सार सहज पाया,
ज्ञायक की ज्ञायकता लख परमानन्द विलसाया।। 16।।
यथायोग्य हों षट्-आवश्यक पापों के हारक,
किन्तु अवश का कर्म ज्ञानमय निश्चय आवश्यक।
निर्विकल्प आनन्दरूप मैं उपादेय जाना,
रागादिक से भिन्न अहो मेरा चेतन वाना।। 17।।
नित प्रभावना योग्य आत्मा भाऊँ अन्तर में,
ज्ञान, दान, व्रत, संयम, पूजा से हो बाहर में।
जैनधर्म की नित प्रभावना दिन दूनी स्वामी,
लहें भव्य सन्मार्ग अहो मंगलमय अभिरामी।।18।।
शुद्धातम ही तीर्थ है शाश्वत सब जग पहिचानें,
आत्मज्ञान प्रगटाकर सब ही मोह-तिमिर हानें।
सम्यग्चारित्र धारण करके अक्षय सुख पावें,
कर्म नशावें शिवपद पावें नहीं भव भरमावें।।19।।

ये ही भावना सोलह कारण ज्ञानी को होवें,
वे बिन चाहे तीर्थंकर हों जग के दुःख खोवें।
धर्मतीर्थ प्रगटावें जिसमें भवि स्नान करें,
आप तरें औरन को तारें शिव साम्राज्य लहें।। 20।।
धन्य हुआ जिनशासन पाया आत्मरुचि लागी,
परभावों से भिन्न स्वाभाविक निज महिमा जागी।
स्वर्णिम अवसर मिला व्यर्थ नहीं पर में भरमाऊँ,
तोड़ सकल जगद्वन्द्व-फंद निज शुद्धातम ध्याऊँ।।21।।

(141) सामायिक पाठ

(दोहा)

पंच परम गुरु को प्रणमि, सरस्वती उर धार।
करूँ कर्म छेदंकरी सामायिक सुखकार।। 1।।

(चाल-छन्द)

आत्मा ही समय कहावे, स्वाश्रय से समता आवे।
वह ही सच्ची सामायिक, पाई नहिं मुक्ति विधायक।। 2।।
उसके कारण मैं विचारूँ, उन सबको अब परिहारूँ।
तन में 'मैं हूँ' मैं विचारी, एकत्त्वबुद्धि यों धारी।। 3।।
दुखदाई कर्म जु माने, रागादि रूप निज जाने।
आस्रव अरु बन्ध ही कीनो, नित पुण्य-पाप में भीनो।। 4।।
पापों में सुख निहारा, पुण्य करते मोक्ष विचारा।
इन सबसे भिन्न स्वभावा, दृष्टि में कबहुँ न आवा।। 5।।
मद मस्त भयो पर ही में, नित भ्रमण कियो भव-भव में।
मन-वचन-योग अरु तन से, कृत कारित अनुमोदन से।।6।।

विषयों में ही लिपटाया, निज सच्चा सुख नहीं पाया।
हो निशाचर अभक्ष्य भी खाया, अन्याय किया मन भाया।।7।।
लोभी लक्ष्मी का होकर, हित-अहित विवेक मैं खोकर।
निज-पर विराधना कीनी, किंचित् करुणा नहिं लीनी।।8।।
षट्काय जीव संहारे, उर में आनन्द विचारे।
जो अर्थ वाक्य पद बोले, थे त्रुटि प्रमाद विष घोले।।9।।
किंचित् व्रत संयम धारा, अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचारा।
उनमें अनाचार भी कीने, बहु बाँधे कर्म नवीने।। 10।।
प्रतिकूल मार्ग यों लीना, निज-पर का अहित ही कीना।
प्रभु शुभ अवसर अब आयो, पावन जिनशासन पायो।। 11।।
लब्धि त्रय मैंने पायी, अनुभव की लगन लगायी।
अतएव प्रभो मैं चाहूँ, सबके प्रति समता लाऊँ।। 12।।
नहिं इष्टानिष्ट विचारूँ, निज सुक्ख-स्वरूप संभारूँ।
दुःखमय हैं सभी कषायें, इनमें नहिं परिणति जाये।। 13।।
वेश्या-सम लक्ष्मी चंचल, नहिं पकडूँ इसका अंचल।
निर्ग्रन्थ मार्ग सुखकारी, भाऊँ नित ही अविकारी।। 14।।
निज रूप दिखावन हारी, तव परिणति जो सुखकारी।
उसको ही नित्य निहारूँ, यावत् न विकल्प निवारूँ।। 15।।
तुम त्याग अठारह दोषा, निजरूप धरो निर्दोषा।
वीतराग भाव तुम भीने, निज अनन्त चतुष्टय लीने।। 16।।
तुम शुद्ध-बुद्ध अनपाया, तुम मुक्तिमार्ग बतलाया।
अतएव मैं दास तुम्हारा, तिष्ठो मम हृदय मंझारा।। 17।।

तव अवलम्बन से स्वामी, शिवपथ पाऊँ जगनामी।
निर्द्वन्द्व निशल्य रहाऊँ, श्रेणि चढ़ कर्म नशाऊँ।। 18।।
जिनने मम रूप न जाना, वे शत्रु न मित्र समाना।
जो जाने मुझ आतम रे, वे ज्ञानी पूज्य हैं मेरे।। 19।।
जो सिद्धात्मा सो मैं हूँ, नहिं बाल युवा नर मैं हूँ।
सब तैं न्यारा मम रूप, निर्मल सुख ज्ञान स्वरूप।। 20।।
जो वियोग-संयोग दिखाता, वह कर्म जनित है भ्राता।
नहिं मुझको सुख दुःखदाता, निज का मैं स्वयं विधाता।। 21।।
आसन संघ संगति शाला, पूजन भक्ति गुणमाला।
इनतैं समाधि नहिं होवे, निज में थिरता दुःख खोवे।। 22।।
घिन गेह देह जड़ रूपा, पोषत नहिं सुक्ख स्वरूपा।
जब इससे मोह हटावे, तब ही निज रूप दिखावे।। 23।।
वनिता बेड़ी गृह कारा, शोषक परिवार है सारा।
शुभ जनित भोग जो पाई, वे भी आकुलतादायी।। 24।।
सबविधि संसार असारा, बस निज स्वभाव ही सारा।
निज में ही तृप्त रहूँ मैं, निज में संतुष्ट रहूँ मैं।। 25।।

(दोहा)

निज स्वभाव का लक्ष्य ले, मेटूँ सकल विकल्प।
सुख अतीन्द्रिय अनुभवूँ, यही भावना अल्प।। 26।।

(142) सामायिक भावना

श्री सिद्ध आगम अर्हत् जिन नमि, प्रकट की जिन आत्मा!
उन प्रशममय कृतकृत्य प्रभु सम आत्म में विचरण करूँ।। टेक।।

कोलाहलों से रहित सम्यक् शांतता में तिष्ठ कर।
सब कर्म ध्वंसक ज्ञानमय, निज समय को अब मैं वरूँ।। 1।।
समता मुझे सब जीव प्रति, नहिं बैर किंचित् भी रहा।
मैं सर्व आशा रहित हो, सम्यक् समाधि को धरूँ।। 2।।
हो राग वश या द्वेष वश, मैंने विराधे जीव जो।
उनसे क्षमा की प्रार्थना कर, मैं क्षमा धारण करूँ।। 3।।
मन-वचन अथवा काय से, कृत-कारिते-अनुमोदते।
निज रत्नत्रय में दोष लागे, गर्हा द्वारा परिहरूँ।। 4।।
काया-अहार-कषाय तज, अत्यन्त शुद्धि भाव से।
तिर्यञ्च-मानव-देव कृत, उपसर्ग में समता धरूँ।। 5।।
भय-शोक राग अरु द्वेष, हर्ष अरु दीनता औत्सुक्यता।
रति-अरति के परिणाम तज, सर्वज्ञता अब मैं धरूँ।। 6।।
जीवन-मरण या हानि-लाभे, योग और वियोग में।
मैं बन्धु-शत्रु, दुःख में या सुख में सम ही रहूँ।। 7।।
मम ज्ञान में है आत्मा, दर्शन चरित में आत्मा।
प्रत्याख्यान-संवर-योग में भी मात्र है मम आत्मा।। 8।।
दृग ज्ञान लक्षित और शाश्वत मात्र आत्मा में अरे।
और शेष सब संयोग लक्षित, भाव से पर मैं रहूँ।। 9।।
संयोग दृष्टि की सदा से, इसलिये दुःख अनुभवे।
संयोग दृष्टि दुःखमय, मन-वचन-तन से अब तजूँ।। 10।।
जो समयमय रहते सदा, अरु मोक्ष जिनकी दशा में।
उन सम समय की प्राप्ति हेतु, भक्ति से निज प्रभु नमूँ।। 11।।

(143) समाधिमरण पाठ

सहज समाधिस्वरूप सु ध्याऊँ, ध्रुव ज्ञायक प्रभु अपना।
सहज ही भाऊँ सहज ही ध्याऊँ, ध्रुव ज्ञायक प्रभु अपना।। 1।।
आधि-व्याधि-उपाधि रहित है, नित्य निरंजन ज्ञायक।
जन्म-मरण से रहित, अनादिनिधन ज्ञानमय ज्ञायक।। 2।।
भावकलंक से भ्रमता भव-भव, क्षण नहीं साता आयी।
पहिचाने बिन निज ज्ञायक को, असह्य वेदना पायी।। 3।।
मिला भाग्य से श्री जिनधर्म, सुतत्त्वज्ञान उपजाया।
देहादिक से भिन्न ज्ञानमय, ज्ञायक प्रत्यक्ष दिखाया।। 4।।
कर्मादिक सब पुद्गल भासे, मिथ्या मोह नशाया।
धन्य-धन्य कृतकृत्य हुआ, प्रभु जाननहार जनाया।। 5।।
उपजे-विनसे जो यह परिणति, स्वांग समान दिखावे।
हुआ सहज माध्यस्थ भाव, नहीं हर्ष-विषाद उपजावे।। 6।।
स्वयं-स्वयं में तृप्त सदा ही, चित्स्वरूप विलसाऊँ।
हानि-वृद्धि नहीं होय कदाचित्, ज्ञायक सहज रहाऊँ।। 7।।
पूर्ण स्वयं मैं स्वयं प्रभु हूँ, पर की नहीं अपेक्षा।
शक्ति अनन्त सदैव उछलतीं, परिणमतीं निरपेक्षा।। 8।।
अक्षय स्वयं-सिद्ध परमातम, मंगलमय अविकारी।
स्वानुभूति विलसे अन्तर में, भागे भाव विकारी।। 9।।
निरुपम ज्ञानानन्दमय जीवन, स्वाश्रय से प्रगटाया।
इन्द्रिय विषय असार दिखे, आनन्द स्वयं में पाया।। 10।।
नहीं प्रयोजन रहा शेष कुछ, देह रहे या जावे।
भिन्न सर्वथा दिखे अभी ही, नहीं अपनत्व दिखावे।। 11।।

द्रव्यप्राण तो पुद्गलमय हैं, मुझसे अति ही न्यारे।
शाश्वत चैतन्यमय अन्तर में, भावप्राण सुखकारे।। 12।।
उन ही से ध्रुव जीवन मेरा, नाश कभी नहिं होवे।
अहो महोत्सव के अवसर में, कौन मूढ़जन रोवे।। 13।।
खेद न किञ्चित् मन में मेरे, निर्ममता हितकारी।
ज्ञाता-दृष्टा रहूँ सहज ही, भाव हुए अविकारी।। 14।।
आनन्द मेरे उर न समावे, निर्ग्रन्थ रूप सु धारूँ।
तोरि सकल जगद्वन्द्व-फन्द, निज ज्ञायकभाव सम्हारूँ।। 15।।
धन्य सुकौशल आदि मुनीश्वर, हैं आदर्श हमारे।
हो उपसर्गजयी समता से, कर्मशत्रु निरवारे।। 16।।
ज्ञानशरीरी अशरीरी प्रभु, शाश्वत शिव में राजें।
भावसहित तिनके सुमरण तैं, भव-भव के अघ भाजें।। 17।।
उन समान ही निजपद ध्याऊँ, जाननहार रहाऊँ।
काल अनन्त रहूँ आनन्द में, निज में ही रम जाऊँ।। 18।।
क्षणभंगुरता पर्यायों की, लखकर मोह निवारो।
अरे! जगतजन द्रव्यदृष्टि धर, अपना रूप सम्हारो।। 19।।
क्षमाभाव है सबके ही प्रति, सावधान हूँ निज में।
पाने योग्य स्वयं में पाया, सहज तृप्त हूँ निज में।। 20।।
साम्यभाव धरि कर्म विडारूँ, अपने गुण प्रगटाऊँ।
अनुपम शाश्वत प्रभुता पाऊँ, आवागमन मिटाऊँ।। 21।।

(दोहा)

शान्त हुआ कृतकृत्य हुआ, निर्विकल्प निज माँहि।
तिष्ठूँ परमानन्दमय, अविनाशी शिव माँहि।। 22।।

(144) वचन संबंधी-तत्त्वविचार

(तर्ज : तू तो चेतन चिदानंद चिद्रूप है ...)

बोलना तो कला आत्मा की नहीं,
वर्गणा-भाषा का मात्र परिणाम है।
इसका कर्त्ता स्वयं द्रव्य पुद्गल कहा,
आत्मा का तो इसमें न कुछ काम है।। 1।।
लोग कहते हैं निमित्त तो आत्मा,
पर अहो आत्मा ज्ञान का धाम है।
योग उपयोग की परिणति ही निमित्त,
इनमें आत्मा का आता नहीं नाम है।। 2।।
मात्र व्यवहार से ऐसा उपचार हो,
पर समझ लेना ऐसा महा भूल है।
मान कर्तव्य का स्वप्न में भी हुआ,
तो ये दुर्भाव शिवमार्ग में शूल हैं।। 3।।
सारी क्रियाएँ जिनको धरम तू कहे,
करते-करते भी पाओ न भवकूल है।
मैं तो वक्ता नहीं मात्र ज्ञाता सदा,
ऐसी निज भाव श्रद्धा ही सुख मूल है।।4।।
बोलना आत्मा का यदि भाव हो,
तो फिर प्रभु सिद्ध क्यों वचन से रहित।
वाणी अरहंतों में सबकी क्यों ना खिरे,
उनकी परिणति हुई है अनंतबल सहित।।5।।

राग होते हुए मूक बोले नहीं,
कभी चाहे बिना भी बहुत कुछ कहे।
देखो अजीव ध्वनि यंत्र भी ध्वनि करे,
फिर भी मैं बोलता मूढ़ क्यों तू कहे।। 6।।
करता अभिमान उपदेश मैंने किया,
जिससे रंजित हो सब स्तुति मम करे।
पर अरे भेद-विज्ञान नहिं चिंतता,
द्रव्य निज कार्य की स्वयं शक्ति धरे।। 7।।
भव्य आत्मन्! यदि चाहते हो भला,
झूठी निंदा प्रशंसा में अब मत फँसो।
एक ज्ञायक निरंजन तेरा धाम है,
तोड़ नाता सभी से स्वयं में बसो।। 8।।

(145) पूजा सम्बन्धी-भेद-विज्ञान

(तर्ज : शांत चित्त हो ...)

पूजा में जो शब्द निकलते, भाषा वर्गणा का वह काम।
सामग्री भी जो चढ़ती है, उसमें नहीं तुम्हारा नाम।। 1।।
अपनी क्रियावती शक्ति से, उनका क्षेत्रान्तरण हुआ।
गुण वस्तुत्व और द्रव्यत्व से, उनका खुद परिणमन हुआ।।2।।
होंठ-तालू-हाथों-आँखों ने, अपना-अपना कार्य किया।
सभी कार्य स्वयमेव हुए हैं, अन्य-अन्य ने नहीं किया।।3।।
उसी समय निज की परिणति में, योग और उपयोग हुआ।
जिसके कारण निज आत्मा से, पुण्य कर्म का बंध हुआ।।4।।

सो भी यदि परिणाम उस समय, अशुभ भाव से मुक्त रहे।
पंच–परम गुरु सर्व पूज्यों के गुणों माहिं अनुरक्त रहें।। 5।।
किन्तु सरस वच मैंने बोले, तन–मन स्थिर कीना है।
द्रव्य चढ़ाई अति मँहगी, इस भाँति धर्म बहु कीना है।। 6।।
किंचित् भी मैं बड़ा पुजारी, हो घमण्ड ऐसा मन में।
तो मिथ्यात्व फले फूलेगा, सदा रुलेगा भव–वन में।। 7।।
पूजा से बहुते जीवों के, संकट दूर हुए भगवान।
मेढ़क भी तो स्वर्ग लोक में देव बना था वैभववान।। 8।।
भोग सम्पदा मिले मुझे भी, यदि ऐसा हो जाय निदान।
तो फिर पूजा निष्फल जानो, पाप बंध का कारण जान।। 9।।
ऐसी पूजा तो हे आत्मन्! बहुत बार तुमने कीनी।
एक बार भी पूज्य प्रभु सम, सम्यग्दृष्टि नहीं लीनी।। 10।।
वीतराग के गुण सुमिरन को, ज्ञानीजन पूजा कहते।
उन सम निज स्वभाव आश्रय ले, वे भी सच्चा सुख लहते।। 11।।
तुम भी भेदज्ञान पूर्वक, परिणाम शुद्धि का करो उपाय।
जिससे चंचलता सब छूटे, निज में ही स्थिरता आय।। 12।।

(146) ज्ञानी का भोजन संबंधी चिंतवन

(तर्ज : शांत चित्त हो, निर्विकल्प हो...)

भोजन स्वरूप नहिं मेरा, ये पुद्गल पिण्ड निवेरा।
इससे मम भिन्न चतुष्टय, हूँ निज मैं पूर्ण सुखी मैं।। 1।।
अब मैं निज भाव चितारा, इसका मैं जाननहारा।
लेने की जरूरत नाहीं, इसके बिन पूर्ण सुखी मैं।। 2।।

ज्यों श्वान अस्थि को चावे,अति ही आनंद मनावे।
पर है विपाक दुःखदायी,अन्तः कपोल फाटन तैं।। 3।।
त्यों भोजन में सुख भासे,इसके साधन में राँचे।
पर इसमें बंध अशुभ है,भारी हो दुःख उदय तैं।। 4।।
इसमें नहीं सुख कदाचित्,सुख तो निज की ही परिणति।
इसकी रुचि में तो तृष्णा,तृष्णा बिन पूर्ण सुखी मैं।। 5।।
भोजन से तृप्ति न होवे, सद्ज्ञान सुधा सब खोवे।
मैं ज्ञान स्वरूप सम्हारूँ,जिससे हूँ पूर्ण सुखी मैं।। 6।।
हैं धन्य महामुनि ज्ञानी, जो ध्यान धरैं जिनवाणी।
वाणी-माँ-अंक में सोवे, सुख पायो उन निज ही में।। 7।।
भोजन को नहिं अभिलाखे,निज ज्ञान सुधा रस चाखे।
आश्रय निज भाव का लेते,वे रहित होंय इच्छा तैं।। 8।।
किंचित् विकल्प यदि आवे,अरु नीरस भी नहिं पावे।
तो भी समभाव विचारें,वे सदा सुखी समता तें।। 9।।
उनका अनुकरण करूँ मैं, उन सम स्वध्याय धरूँ मैं।
भोजन का राग न आवे,बिन राग हूँ पूर्ण सुखी मैं।। 10।।

(147) शिव वाँछक-शिव नारी संवाद

शिव वाँछक -

हे शिवनारी ! मिलन की इच्छा, झूठे जग की ना अब वांछा।
जग का सब सौन्दर्य निहारा, इसमें तो दुःख भरा अपारा।। 1।।

शिव नारी-

हे चेतन राजा! सुन लीजे, मेरी शर्त हृदय धर लीजे।
नारी से तुम करहु न यारी, तो होऊँ मैं सुख सहचारी।। 2।।

शिव वाँछक–

मैं तो नारी प्रथमहि छोड़ी, अब मैं प्रीति तुम्हीं ते जोड़ी।
तातें पूरो मुझ अभिलाषा, मैं चाहूँ शिवधाम निवासा।। 3।।

शिव नारी–

नारी का संयोग ही त्यागा, पर नारीपन तुम से लागा।
ज्यों नारी आधीन पराये, त्यों सुख हेतु मुझे तू चाहे।। 4।।
यदि नारीपन त्यागा होता, लक्ष्य न तेरा मुझमें होता।
आश्रय कर स्वभाव सुखकारा, सुख पाता अनुपम अविकारा।।5।।

शिव वाँछक–

नारीपन का भाव बताओ, अरु पुरुषत्व भाव दर्शाओ।
मेरी लगन तुम्हीं से लागी, तेरे कारण हुआ विरागी।। 6।।

शिव नारी–

जिससे सुख तो पर में दीखे, पर बिन निज सुख माने फीके।
वह नारीपन है दुःखदाई, अब पुरुषत्व सुनो सुखदाई।। 7।।
जो सुख ज्ञान लखे स्वधीना, जिसने पर को निज नहीं चीन्हा।
आत्म स्वभाव जु जग में सारा, थिर उसमें हो सुखी अपारा।।8।।

शिव वाँछक–

हे शिव रमणी! मैंने जाना, पर दृष्टि नारीपन माना।
और स्वभाव दृष्टि सुखकारी, है पुरुषत्व सदा अविकारी।।9।।
रागादिक विकारी भाव न चाहूँ, अब आशा है तुमको पाऊँ।
आने की तुम करो तैयारी, मैंने मानी शर्त तुम्हारी।। 10।।

शिव नारी–

क्या तुम मानी शर्त हमारी, फिर भी दृष्टि मुझ पर डारी।
ध्रुव स्वभाव को नहीं निहारा, कैसे होवे मिलन हमारा।।11।।
मैं भी तो हूँ पर ही भाई, नहीं विवेक किया सुखदाई।
मैं तो क्षणिक सदा ध्रुव नांहि, भेद रहित तुम अचल सदा ही।। 12।।
उसमें निजता थिरता धारो, मुझको भी तुम नहीं निहारो।
वांछा से नहीं मुझको पाओ, वांछा त्याग स्वयं अपनाओ।। 13।।

शिव वाँछक–

हे शिवरूपा! मैं भ्रम में था, तुमको लौकिक नारि लखे था।
तुम मेरी निर्मल पर्याया, जिसमें पूर्ण स्वभाव दिखाया।। 14।।
बाहर की वांछा सब त्यागी, भावकर्म से हुआ विरागी।
दृष्टि शुद्ध दशा में फाँसी, इससे हुई जगत में हाँसी।। 15।।
अब ऐसी दृष्टि परिहारूँ, भेद कल्पना भी न निहारूँ।
ध्रुव में ही तन्मय हो जाऊँ, सुख निराकुल तब उपजाऊँ।। 16।।

(दोहा)

ज्ञानोदय मुझमें हुआ, छूटी भूल महान।
आश्रय निज का प्राप्त कर, पाऊँ अविचल थान।। 17।।

(148) आत्मार्थी–जिनवाणी संवाद

आत्मार्थी–

हे मात करुणाकर मुझे, अब गोद में ले प्यार दे।
कह सकूँ मैं माँ तुझे, ऐसा मुझे अधिकार दे।।
रुदन मेरा बन्द हो, ऐसा सुभग उपहार दे।
मग्न हो गाया करूँ, ऐसी मधुर मल्हार दे।।

अब मुझे पुचकार ले, माता कहाने के लिए।
मैं कर रहा हूँ वन्दना, निज बोधि पाने के लिए।।

जिनवाणी–

हे भव्य! निर्मल दृष्टि से, अब दीन भाव विडार दे।
झाँक अन्तर में तनिक, प्रभुता स्वयं स्वीकार ले।।
रुदन की ना है जरूरत, छोड़ पर अपने में आ।
झूल समता के हिंडोले, परम भाव मल्हार गा।।
आज खुद में लीन हो जा, प्रभु कहाने के लिए।
निज भाव ही है एक शरणा, बोधि पाने के लिए।।

आत्मार्थी–

जानता नहीं आत्मा मैं, माँ बता दे अब मुझे।
आत्म–वैभव का सहज, परिचय करा दे माँ मुझे।।
रुल रहा हूँ चार गति में, सुख न पाया है जरा।
हर्ष सा कुछ हो रहा यह, जान सुख निज में भरा।।
हो रहा मैं आज आतुर, दुःख मिटाने के लिए।
मैं कर रहा हूँ वन्दना, निज बोधि पाने के लिए।।

जिनवाणी–

आत्मा तू है स्वयं ही, पूछता है क्यों अरे ?
आत्मा का ही नजारा, विश्व में जाहिर खरे।।
मौजूदगी से आत्मा की, कद्र तन की सब करें।
निकल जावे आत्मा तो, चिता में इसको धरें।।
उपयोग लक्षण है कहा, पहिचान करने के लिए।
दृष्टि अन्तर में करो,सब दुःख मिटाने के लिए।।

आत्मार्थी–

आँख जब मैं बन्द करता, बस अंधेरा सा दिखे।
ध्यान करने बैठता, उपयोग नहिं किंचित् टिके।।
अति चपल मन भटकता है, मात! बाहर ही अरे।
आलस्य आकर घेरता है, नहिं समझ कुछ भी परे।।
माँ सुना दे आत्म–वैभव, रुचि जगाने के लिए।
मैं कर रहा हूँ वंदना, निज बोधि पाने के लिए।।

जिनवाणी–

विश्व का सिरताज चेतन, गुण अनंत सु हैं भरे।
कर्मादि अरु रागादि भी, रहते सदा जिससे परे।।
शैवाल तो ऊपर ही है, लहरें भी ऊपर ही अहा।
खान रत्नों की अपरिमित, निस्तरंग सागर यथा।।
पर्याय अरु गुणभेद से भी, भिन्न त्यों प्रभुता लिए।
चैतन्य रत्नाकर लखो, निज, रुचि जगाने के लिए।।
अनुपम मनोरम रूप निज दिखते ही मन भा जायेगा।
अंधकार नहीं रहे, अद्भुत प्रकाश दिखाएगा।।
निज का सहज आनंद पा, आलस्य फिर नहीं आयेगा।
अस्थिरता होने पर भी, चित्त पुनि–पुनि वहीं ललचायेगा।।
पुरुषार्थ खुद ही प्रकट हो, थिरता चढ़ाने के लिए।
बस भव्य अन्तर्दृष्टि कर, निज रुचि जगाने के लिए।।

आत्मार्थी–

माँ आवरण है कर्म का, पुरुषार्थ कुछ चलता नहीं।
बीच भवदधि में पड़ा हूँ, तीर भी दिखता नहीं।।

शास्त्र भी पढ़ता, नियम-संयम का पालन भी करूँ।
शांत चित्त फिर भी न हो, तू ही बता माँ क्या करूँ।।
आज आया हूँ शरण मैं मार्ग पाने के लिए।
मैं कर रहा हूँ वन्दना, निज बोधि पाने के लिए।।

जिनवाणी-

भ्रम आवरण का छोड़, तू तो निरावरण त्रिकाल है।
कर्मादि जड़ अति भिन्न, इनसे भिन्न तेरी चाल है।।
मूल है चारित्र सुख का, आत्म-दर्शन ही अहो।
शुद्धात्म का आश्रय किये, सुख से भवोदधि पार हो।।
निज भाव परम प्रकाशमय, मारग सुझाने के लिए।
निश्चिंत हो निज में समा जा, तृप्ति पाने के लिए।।

आत्मार्थी-

माँ अब मुझे विश्वास जागा, सिद्ध सम मम रूप है।
दृग-ज्ञान-सुख-बल मय सदा, चैतन्य भाव अनूप है।।
पर से नहीं किंचित् कभी, मम सुख का सम्बंध है।
स्वाधीन आनंदखान, मेरा भाव तो निर्बन्ध है।।
निज भाव ही है एक आश्रय, मुक्ति पाने के लिए।
चरणों में नत हूँ माँ सहज, निर्वांछक निज दृष्टि लिए।।

(149) अज्ञानी-ज्ञानी संवाद

अज्ञानी-

मैं क्या करूँ नाथ ! मुझे कर्मों ने घेरा, मुझे कर्मों ने घेरा।
कर्मों के उदय से ही, दुःख पाया घनेरा।।1।।

ज्ञानी–

तेरी ही है भूल, नहिं कर्मों ने दु:खेरा।
निज रूप देख नाथ, होवे तुझमें उजेरा।। 2।।

अज्ञानी–

शास्त्र पढ़ूँ तो मैं पढ़ नहीं पाऊँ।
सिर भी पचाऊँ, पढ़ूँ, फिर भूल जाऊँ।।
मेटो अज्ञान मुझे कर्मों ने घेरा।। 3।।

ज्ञानी–

कल्याण का निमित्त जान, प्रीति से पढ़ना।
ज्ञानी का समागम, फिर-फिर के करना।।
थिरता से मिटेगा अज्ञान अंधेरा।। तेरी।। 4।।

अज्ञानी–

सामायिक करूँ तो, मोसे बैठा नहिं जावे।
पैर-कमर दूखें, मेरा जिया घबड़ावे।।
चाहूँ मैं आराम, मुझे कर्मों ने घेरा।। 5।।

ज्ञानी–

सामायिक स्वरूप, पहले जिनवाणी से जानो।
अर्थ भाव उसका, निश्चय उर आनो।।
है उसमें ही आराम जान, आतम चितेरा।। 6।।

अज्ञानी–

माला फेरूँ तो मन घूमने को जावे।
उसे समझाऊँ तो फिर नींद आ जावे।।
कैसे जपूँ जाप, मुझे कर्मों ने घेरा।। तेरी.।। 7।।

ज्ञानी–

मंत्र के वाच्य का, स्वरूप यदि पावे।
प्रयोजन समझे, तो नींद नहीं आवे।।
सहज जपे जाप, मिटे मन का घुमेरा।। तेरी.।। 8।।

अज्ञानी–

उपवास न होवे मोसे, नीरस न भावे।
एकाशन करूँ, शाम भूख लग आवे।।
स्वाद नहीं छूटे, मुझे कर्मों ने घेरा।। तेरी.।। 9।।

ज्ञानी–

निराहारी आत्मरूप, जब तू जाने।
विषय–भोग दुःखदायी, श्रद्धा उर आने।।
मिटे बाह्य स्वाद रस, आवे आतम केरा।। तेरी.।। 10।।

अज्ञानी–

पुण्य नहीं होवे मोसे, पाप नहीं छूटे।
देने के नाम से, पेट मेरा दूखे।।
कैसे हो कल्याण, मुझे कर्मों ने घेरा।। तेरी.।। 11।।

ज्ञानी–

पर वस्तु परभाव भिन्न जब जाने।
आत्मानुभूति कर, उनमें नहिं साने।।
पाप–पुण्य छूटें, होवे निज में बसेरा ।। तेरी.।। 12।।

उपसंहार–

कर्म तो तेरे दुःख के जिम्मेवार नहीं हैं।
अपने स्वभाव बिना, सुख नहीं कहीं है।।
कर्मों को तो ज्ञान नहिं, उनका और तेरा।। तेरी.।। 13।।

(150) शिष्य–गुरु संवाद

शिष्य–सुख क्या है मुझे बता दीजे, सुख का कारण समझा दीजे।
गुरुवर अनुकम्पा यह कीजे, भव–दुःख से मुझे छुड़ा लीजे।। 1।।
गुरु– सुख तो आत्मा का सहज भाव,सुख का कारण वीतराग भाव।
जहाँ राग भाव का है अभाव, सम्पूर्ण दुःख का वहाँ अभाव।। 2।।
शिष्य–यह वीतरागता जिससे हो, साधन सुनने की जिज्ञासा।
साधन बिन साध्य की सिद्धि ना, सुख सुधा पान की मुझे तृषा।। 3।।
गुरु– साधन उसका सम्यग्दर्शन, निज ध्रुव स्वभाव का ही दर्शन।
सब अन्य विकल्पों को तजकर, हो आत्मरूप की एक लगन।। 4।।
शिष्य– पर्याय में राग अरु द्वेष भरा, उसके विनाश की हम सोचें।
पर्याय दृष्टि यदि नहीं करे, तो दुख कारण कैसे मोचें।। 5।।
गुरु– पर्याय तो स्वयं चली जाती, उसके अभाव की चिंता क्या?
यदि रागभाव की चिंता की, तो रागभाव की आशा क्या।। 6।।
शिष्य– इसका तो अर्थ हुआ गुरुवर, चिंतन भी स्वयं राग ही है।
फिर नहीं समझ में आता है, इसकी अचूक औषधि क्या है।। 7।।
गुरु– ज्यों पानी कुएँ से निकाल, फिर उसको अग्नि योग करें।
तो स्वयं गर्म वह होता है, चिंतन उसको शीतल न रखे।। 8।।
त्यों निज से च्युत जो आत्म–परिणति, जब पर से जुड़ जाती है।
निज दोष से अरे विकारी हो, आकुलता ही उपजाती है।। 9।।
पर निकला पानी गर्म हुआ, सम्पूर्ण कुँआ तो शीतल है।
जो निकले नीर दूसरे क्षण, उसमें तो तपन न तिलभर है।। 10।।

पर यदि उसको भी पुनः, अग्नि से गर्म हुए जल में डालें।
तो वत्स! गर्म होवे वह भी, फिर शीतल जल कैसे पावें।। 11।।
बस इसी भाँति तुझ चेतन में, पर्याय विकारी होती है।
ध्रुव रूप विकारी नहिं होवे, तेरी बुद्धि कहाँ सोती है।। 12।।
अविकारी ध्रुव पद नहीं लखे, पर्याय की चिंता मात्र करे।
तो फिर सन्तति कैसे टूटे, हे भव्य! दशा कैसे सुधरे।। 13।।
उसका उपाय है यही मात्र, पर्याय दृष्टि दुःख रूप तजे।
चैतन्यरूप मैं सुख स्वरूप, अन्तर्दृष्टि धर यही लखें।। 14।।
शिष्य– हे गुरुवर! तव उपकार महा, दृष्टांत से मुझे बताया है।
अब तक सुख मार्ग न समझा था, अब सहज समझ में आया है।। 15।।
जो सुख स्वरूप है मुझ स्वभाव, वह ही मुझको अवलम्बन है।
उसको श्रद्धें, ध्याऊँगा मैं, यह ही सुख वेदन साधन है।। 16।।

(दोहा)

वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु, परम हितैषी आप।
वाणी सुनकर आपकी, मिटे सभी संताप।। 17।।
अनुगामी हो आपका, करता भाव प्रणाम।
आत्मभाव में लीन हो, पाऊँ मैं विश्राम।। 18।।

(151) श्री कुन्दकुन्द संवाद

पिता–हठ तजो रे बेटा! हठ तजो, मत जाओ वनवास,बेटा हठ तजो।
कुंदकुंद– मोह तजो रे पिताजी मोह तजो, जाने दो वनवास, पिताजी.. ।
पिता–वन में कंकर, वन में कंटक, वन में बाघ विकराल...।

कुंदकुंद- बाघ सिंह तो परम मित्र हैं, धरूँगा आतम ध्यान,
सुख वैभव भंडार भरा है, तेरे ही आधार।
यह संसार दावानल सुलगे, सुख जलावन हार।।
पिता- लाड़ लड़ाऊँ प्रेम से तुझको, ले लो मिष्ट पकवान।
कुंदकुंद- काया मिट्टी की अरे! क्या पोषे दुःखदाय।
पिता- ऊँचे-ऊँचे महल मनोहर, हीरा-मोती अपार।
कुंदकुंद- महल-मसान, हीरा अरु मोती,रे! रे! पुद्गल का ठाठ।
पिता- भयंकर वन में कैसे सहेगा, वर्षा मूसलाधार।
कुंदकुंद- अतीन्द्रिय सुख में मग्न हो, धरूँगा ध्रुव का ध्यान।
पिता- कोमल काया है तेरी कैसे सहे आताप।
कुंदकुंद- श्रीफल में गोला जुदा, जुदी नरेटी छाल,
शुद्धातम गोला त्यों जुदा, जुदा करम औ राग।
आज्ञा दे दो शीघ्र पिताजी, जाऊँ मैं वनवास।।
पिता- धनि-धनि तव वैराग्य है, जाओ खुशी से आज।

(152) संसारी -मुमुक्षु संवाद

संसारी-

बहु कारोबार चलाओ तुम, जग इष्टित द्रव्य कमाओ तुम।
चाहे न्याय करो, अन्याय करो, सत मंजिल महल बनाओ तुम।। 1।।
फिर कर लेना पूजा, संयम, स्वाध्याय भी फिर कर लेना।
यह उमर है खाने पीने की, मनवांछित मौज उड़ाओ तुम।। 2।।
है धर्म बुढ़ापे की वस्तु, गृह-कार्य अभी करणीय तुम्हें।
बढ़िया पहनो, तन पुष्ट करो, हों भोग बढ़े रमणीय तुम्हें।। 3।।

इकले का भी जीवन क्या है? पत्नी बिन है आनन्द नहीं।
बच्चे कहते हों पापा जी, ऐसा सुख क्या अन्यत्र कहीं।। 4।।

मुमुक्षु का प्रत्युत्तर-

है यह कथनी सब मोह भरी, मैं अभी प्रमाणित करता हूँ।
हे भ्रात! आप कह चुके सुनो, अब विनय पूर्वक कहता हूँ।। 5।।
जो सुख साधन निर्दिष्ट किये, कई बार उन्हें अजमा लीना।
उनसे बहु दुःख उठाया है,जिनमार्ग अतः मैंने लीना।। 6।।
है जीवन क्षणभंगुर भाई, अतएव न समय गँवाना है।
अन्याय मार्ग तज कर मुझको, निज अक्षय द्रव्य कमाना है।। 7।।
छोडूँ वांछा निज पूजा की, अरु राग भाव को विसराऊँ।
ज्ञानात्मक भोजन करूँ सदा, सुन्दर समता जल मैं पाऊँ।। 8।।
है धर्म बुढ़ापे की वस्तु, पर बुढ़ापा किसको कहते हैं।
यह दशा मरण से पहले की, जिसको हम प्रतिक्षण धरते हैं।। 9।।
अतएव धर्म का समय भ्रात, निज कार्य तुरत करणीय मुझे।
निज आत्म-प्रदेशी गृह में हो, है स्वानुभूति वरणीय मुझे।। 10।।
एकत्व बुद्धि का जीवन क्या? सत् श्रद्धा बिन आनंद नहीं।
तत्समय की योग्यता कार्य करे,हो करने का कुछ द्वन्द्व नहीं।। 11।।
पर्याय रूप निज संतति जो, वह अहंकार की त्यागी हो।
हूँ स्वामी शाश्वत ध्रुव स्वभाव, मुझमें ही बस अनुरागी हो।। 12।।
हे भ्रात! न दुःख का लेश रहे, अतएव इसे तुम भी मानो।
यदि नहिं मानो तो तुम जानो, मुझसे तो आग्रह मत ठानो।। 13।।

है द्वेष नहीं कुछ भाई जी, परिणति सबकी न्यारी-न्यारी।
नहिं चाहूँ मैं कुछ भी तुमसे, ध्याऊँ आतम पद अविकारी।। 14।।

(दोहा)

आज्ञा दे दो भ्रातजी, करूँ स्व-पर उद्धार।
जब दुख से थक जाओ, तब लेना ये ही सार।। 15।।

(153) पिता-पुत्र संवाद

पिताजी :-

कहें पिताजी सुनो पुत्र प्रिय! तेरा पालन करने में।
चिंता कीनी, दुःख उठाये, तेरी माता अरु मैंने ।। 1।।
बहुत दिनों से आशा कीनी, वह अवसर अब आया है।
बड़ा हुआ तू पढ़-लिखकर, अरु जग में नाम कमाया है।। 2।।
पूर्ण करो मेरी आशायें, ठाठ से ब्याह रचाओ तुम।
अतुल द्रव्य का संचय करके, सुंदर महल बनाओ तुम।। 3।।
कार,फ्रिज,टेलीविजन ला, सुख-साधन सम्पन्न बनो।
नौकर-चाकर करें चाकरी, बैठे बस आदेश करो।। 4।।
पौत्रादिक को गोद खिलाऊँ, मन मेरा हर्षित होवे।
दूर होंय दुःख दारिद्र सारे, जन्म सफल मेरा होवे।। 5।।

पुत्र-

सुनो पिताजी! ज्ञानवान हो, ये नहीं वचन तुम्हारे हैं।
मिथ्या श्रद्धा, तीव्र राग के कारण ये उच्चारे हैं।। 6।।
तुमने मुझको बचपन से ही, जैनधर्म है सिखलाया।
जिन गुरुओं ने काया से भी, भिन्न सहज सुख बतलाया ।। 7।।

सांसारिक वैभव जुटने से तो, दुःख उल्टा बढ़ता है।
इसलिए तो साधुजनों को लौकिक वैभव खलता है।। 8।।
वनिता धोखे की टटिया है, दुःख प्रवाह बहाती है।
बहुरूपिया की भाँति रूपधर, भोगेच्छा उपजाती है।। 9।।
नरक पद्धति इसी हेतु से, नारी को बतलाया है।
वास्तव में तो अन्य न कोई, सुख–दुःख दायक गाया है।। 10।।
पुत्रादिक भी स्वार्थी ही हैं, इनसे मोह बढ़ाओ ना।
दुर्लभ मानव जीवन के क्षण, इसीप्रकार गँवाओ ना।। 11।।
अल्प आयु ही शेष रही है, आत्म तत्त्व का ज्ञान करो।
सम्यक् रत्नत्रय धारण कर, निज–पर का कल्याण करो।। 12।।
मैं प्रिय पुत्र तुम्हारा हूँ, तब सच्चे सुख का इच्छुक हूँ।
धर्म–ध्यान में निरत रहूँ, बस इस आज्ञा का भिक्षुक हूँ।। 13।।
आत्म तत्त्व का सत्य ज्ञान कर, सब जग को बतलाऊँगा।
स्वयं सुख में लीन होऊँगा, सबको पथ दर्शाऊँगा।। 14।।

(154) पुत्र–माता संवाद

पुत्र–

शुद्ध होकर मैं मंदिर को धाया, प्रभु को श्रद्धा सहित सिर झुकाया।
आज्ञा पाली सभी, दर्शन कीने अभी, माता मेरी।।
भोजन देने में मत कर तू देरी।। 1।।

माता–

मैं हूँ चेतन प्रभू, तुम भी चेतन ही हो, ज्ञानधारी।
इसमें परिवर्तन नहीं करना है।।
कैसे कहते हो मैं माँ तुम्हारी।। 2।।

पुत्र–

माता मैंने तो अब तक सुना था, जन्म दात्री बड़ी होती माता।
तुम बड़ी मुझसे हो, जन्म दीना अहो, माता मेरी।।
इसलिए आशा कीनी मैं तेरी।। 3।।

माता–

दोनों काल अनादि से भ्रमते, नाना योनियों में जन्म धरते।
आयु को पूर्ण कर, वहाँ से प्रस्थान पर, अति दुःखारी।।
कैसे कहते हो मैं माँ तुम्हारी।। 4।।

पुत्र–

माता काया कहाँ से ये आई ? गर्भ में तो तुम्हीं ने बनाई।
वहाँ पै भोजन दिया, अंग सुन्दर किया, माता मेरी।।
कायापेक्षा कहूँ माता मेरी।। 5।।

माता–

धर्मशाला में यात्री हैं आते, ठहरते फिर वहाँ से सिधाते।
वैसे निजकर्म से, गर्भ में आ बसे, गति ये धारी।।
कैसे कहते हो काया हमारी।। 6।।

पुत्र–

माना अपने करम से ही पाई, फिर भी काया तो मेरी ही माई।
इन्द्रियों से सबल, श्वाँस बिन मैं निबल, माता मेरी।।
पुष्टि कर्त्री तुम्हीं माता मेरी।। 7।।

माता–

इस अवस्था में जो तन दिखाता, वह तो पुद्गल, नहीं तुमसे नाता।
ये तो प्रत्यक्ष जड़, तुमसे होगा विलग, ये विकारी।।
तुम तो चैतन्यमय निर्विकारी।। 8।।

पुत्र –

माना काया से मेरा न नाता, जीव इसको यहीं छोड़ जाता।
ओह ! अब क्या करूँ, चेतन कैसे वरूँ, सुख हो नेरी।।
शीघ्र मुझको बता माता मेरी ।। 9 ।।

माता

जब ये काया नहीं है तुम्हारी, दृष्टि क्यों तुमने मुझपै है डारी।
मुझको माता कहो, व्यर्थ मोह गहो ज्ञानधारी।।
तुम स्वयं सुखमय अविकारी।। 10 ।।

पुत्र–

समझा तुम तो कथन मात्र माता, कौन देगा मुझे सुख साता।
जिससे दुःख को हरूँ, सत्य मारग लगूँ, हो न देरी।।
निश्चय माता बता तू ही मेरी।। 11 ।।

माता–

पूर्व में पुण्य तुमने कमाया, धर्म साधन का शुभ योग पाया।
तत्त्वज्ञानी मिले जिनवाणी मिली, माँ तुम्हारी।।
कैसे कहते हो मैं माँ तुम्हारी।। 12 ।।
बात इनकी सुनो और मानो, शीघ्र निज आत्मा को पिछानो।
ज्ञान अभ्यास कर, स्वानुभव कर निडर, हो सुखारी।।
कैसे कहूँ मैं माता तुम्हारी।। 13 ।।

पुत्र–

माता उपकार तेरा महा है, स्वाद आत्मा का आज चखा है।
बाह्य दृष्टि तजूँ, लीन निज में रहूँ, मेटूँ फेरी।।
देओ आशिष मुझे माता मेरी।। 14 ।।

माता–

अन्त संसार का तुम करो जी, व्यर्थ भव नहीं तुम रुलो जी।
राग सब ही विसर, सम्यक् चारित्र धर, समता धारी।।
मुक्ति ललना हो दासी तुम्हारी।। 15।।

(155) ज्ञानी माता–ज्ञानी पुत्र संवाद

माता–

सुखी रहो घर माँहि बेटा हठ तजो।। 1।।

बेटा –

जागो उर वैराग्य माता मोह तजो।। 2।।

माता –

समय खेलने का यह बेटा, क्या कुछ कमी दिखाय।
क्यों वन जावे धरे योग क्यों, मोकों व्यर्थ रुलाय?
सुखी रहो घर माँहि, बेटा हठ तजो।। 3।।

बेटा–

चिर तैं भ्रमते बहु दुःख पाये, अब यह अवसर आयो।
आत्मबोध आनन्दमय पायो, और न कछू सुहायो।।
जागो उर वैराग्य, माता मोह तजो।। 4।।

माता–

कोमल तन है हीन सहंनन कैसे साधो योग।
कैसे चित्त लगेगा वन में, छोड़ मनोहर भोग।।
सुखी रहो घर माँहि, बेटा हठ तजो।। 5।।

बेटा –

घर तो कारागृह सम लागे, विषय हलाहल रूप।
अशरण भवसागर में दीखे, शरण शुद्ध चिद्रूप।।
जागो उर वैराग्य, माता मोह तजो।।6।।

माता–

कौन सँभालेगा ये वैभव, पाले कौन कुटुम्ब।
कौन को देख के धैर्य धरूँगी, कौन कहेगा अम्ब।।
सुखी रहो घर माँहि, बेटा हठ तजो।।7।।

बेटा –

धूल समान जगत का वैभव, भासा सर्व असार।
झूठी प्रभुता झूठी ममता, भव–भव में दुःखकार।।
जागो उर वैराग्य, माता मोह तजो ।।8।।

माता–

जग में आये हो तो देखो, जग के भी कुछ ठाठ।
जिससे फिर आकर्षण में फँस, होय न बारा–वाट।।
सुखी रहो घर माँहि, बेटा हठ तजो।।9।।

बेटा –

अविनाशी सुखमय निज वैभव, निज पद ही है सार।
पाने योग्य स्वयं में पाया, आनन्द अपरम्पार।।
जागो उर वैराग्य, माता मोह तजो ।।10।।

माता–

योग मार्ग में घोर परीषह, अरु उपसर्ग सताय।
नाना स्वाँग अरु ऋद्धि दिखाकर, देव कभी ललचाय।।
सुखी रहो घर माँहि, बेटा हठ तजो।।11।।

बेटा–

निर्भय स्वयं सिद्ध शुद्धातम, भय नहीं दीखे कोय।
पूर्ण स्वयं में, तृप्त सहज ही, वांछा ही नहीं होय।।
जागो उर वैराग्य, माता मोह तजो।। 12।।

माता –

देख रही थी तेरी दृढ़ता, धनि तेरा वैराग्य।
जाओ सुख का यही मार्ग है, झूठा जग अनुराग।।
ध्याओ आत्मस्वरूप, मैं भी कब दीक्षा धरूँ।। 13।।

बेटा–

धन्य हुआ तुमसी माँ पाई, पायो आत्मस्वरूप।
आनन्दित हो वन को जाऊँ, धरूँ दिगम्बर रूप।।
जागो उर वैराग्य, माता मोह तजो।। 14।।

माता–

कौन है माता, कौन है बेटा, सब ही हैं भगवान।
नित्य निरंजन शुद्ध–बुद्ध प्रभु, निश्चय सिद्ध समान।।
ध्याओ आत्मस्वरूप, मैं भी दीक्षा धरूँ।। 15।।

बेटा –

रहूँ सहज निर्ग्रन्थ अकिञ्चन, ध्याऊँ आतमराम।
मोह नशाऊँ, कर्म भगाऊँ, पाऊँगा शिवधाम।।
जागो उर वैराग्य, माता शिव लहूँ।। 16।।

(156) भाई-बहिन संवाद

भाई-

अरे बहिन तुम अब सुनो, दृढ़ श्रद्धा उर धार।
महावीर ने जो कहा, तीन लोक में सार।। 1।।

बहिन-

महावीर के पास क्या? खुद ही हैं निर्ग्रन्थ।
विषय रूप सुख है नहीं, वीतराग वह पंथ ।। 2।।

भाई-

किस भ्रम में भूली हुई, मान विषय में सुख।
करो सुआदर आत्म का, जिसमें सच्चा सुख।। 3।।

बहिन-

इष्ट विषय तो सुखमय, इनसे तृप्ति पाय।
भोग वस्त्र भोजन बिना, आकुलता उपजाय।। 4।।

भाई-

यदि विषयों में सुख हो, तो क्यों छोड़ो भ्रात।
भोजन पर भोजन करो, खाते क्यों थक जात।। 5।।
सुखाभास सेवत समय, फल में है दुःखदाय।
आकुलता के बीज हैं, त्यागे श्री मुनिराय।। 6।।

बहिन-

धन से सब सुख प्राप्य है, ज्ञानी भी मिल जाय।
पूजा दानादिक करें, स्वर्ग मिले अधिकाय।। 7।।

भाई–

सच्चा सुख वहाँ भी नहीं, आकुलता तत्काल।
तहँ तैं चय संसार में, होय दुःखी बेहाल।। 8।।

बहिन–

तो फिर सुख क्या भ्रातजी? किस विधि प्राप्ति होय।
जानो दुःखमय विषय सब, सुखमय कभी न कोय ।। 9।।

भाई–

सुख तो तेरा रूप है, सहज प्राप्त हो जाय।
जिस क्षण इच्छाएँ तजे, निज में ही प्रकटाय।। 10।।
इसीलिए प्रभु वीर ने, दिया यही संदेश।
शुद्धातम अनुभव करो, जिससे सुख हमेश।। 11।।
ज्ञान बिना सुख है नहीं, कुछ भी करो उपाय।
सुख चाहत भी दुःख बढ़े, दुःख अन्त नहीं आय।। 12।।

बहिन–

आत्मज्ञान कैसे मिले? भ्रात बताओ पाथ।
मैं अनाथ थी आज तक, अब प्रभु निकट सनाथ।। 13।।

भाई–

अरे! बहिन श्रद्धा सहित, करो सदा स्वाध्याय।
तत्त्व पठन-पाठन-श्रवण, चिंतन-ध्यान लगाय।। 14।।
निज स्वभाव जिससे दिखे, ज्ञान उसी का नाम।
वीतराग-विज्ञान से, सहज मिले शिवधाम।। 15।।

बहिन–

स्वाध्याय भी मैं करूँ, ध्यान हृदय में लाय।
पर इस चंचल चित्त में, बहु विकल्प हो जाय।। 16।।

भाई–

एक प्रश्न मैं पूछता? कौन विकल्प सताय।
उलझे मन किस वस्तु में, जिससे दुःख न मिटाय।। 17।।

बहिन–

परमेष्ठी को जपत भी, दीखे तन–धन–धाम।
विषय ध्यान में आत हैं, होय लक्ष्य तब वाम।। 18।।

भाई–

इनमें ही तव रुचि लगी, इनमें सुःख दिखाय।
महिमामय ये ही दिखें, आत्म–तत्त्व क्यों पाय।। 19।।
ध्यान–ज्ञान बिन है नहीं, निर्णय करो स्वरूप।
समझो महिमा आत्म की, पाओ सुख अनूप।। 20।।
जैसे व्यापारी सजग, रहे समय व्यापार।
भूख–प्यास निद्रा नशे, दीखे धन ही सार।। 21।।
त्यों ही ज्ञानी है सजग, सुख देखे निज माँहि।
बाह्य दृष्टि छूटे स्वयं, सब परभाव पलाँहि।। 22।।
कहने का तात्पर्य है, जितने उठे विकल्प।
अधिके ज्ञानाभ्यास से, रहें न अन्य विकल्प।। 23।।

बहिन–

अब मम दृष्टि खुल गई, छूटा सब मिथ्यात्व।
भाव धर्म समझा सभी, पाया निज का सत्व।। 24।।

ध्रुव स्वभाव का लक्ष्य ले, करूँगी ध्यानाभ्यास।
वीरनाथ अवलम्ब ले, बैठूँ प्रभु के पास।। 25।।
जो मम सच्चे तात हैं, बतलाया सुखधाम।
ऐसे त्रिभुवन नाथ को, भक्ति सहित प्रणाम।। 26।।

(157) बहिन-भाई संवाद

बहिन -

सदियों की दु:ख भरी गाथा, भैया मैं तुम्हें सुनाती हूँ।
पड़ विषयों के धोखे में मैं, भव-भव के दु:ख उठाती हूँ।। 1।।
अब तुमसे यह अरदास करूँ, मुझको कोई मार्ग बता दीजे।
इन दु:खों से छुटकारा हो, मुक्ति की राह दिखा दीजे।। 2।।

भैया-

भगिनी एक बात कहूँ तुझसे, यह दु:ख नहिं भ्रम तेरा है।
यह बाह्य परिग्रह ना कुछ भी, इसने ना तुमको घेरा है।। 3।।
जो क्षण-क्षण राग उठे तुमको, उसकी तुम दिशा बदल देना।
निज को पाने के लिए अरे! तन-मन-धन अर्पण कर देना।।4।।

बहिन-

यह बात आपकी शिरोधार्य, पर भैया इतना कहती हूँ।
संस्कार पड़े जो सदियों के, उनमें ही पुनः अटकती हूँ।। 5।।
खुद राग करूँ, उसे पर का कहूँ, यह बात हृदय में खटकती है।
दु:ख का कारण है राग मेरा, इतने तक दृष्टि जाती है।। 6।।

भैया -

संस्कार कहाँ हैं सदियों के, पर्यायें सदा क्षणिक होती।
तुम तो हो शाश्वत ध्रुव अखण्ड, फिर तुमसे वह कैसे जुड़ती।।7।।

यदि राग जीव का होता तो, सिद्धों से दूर हुआ कैसे।
फिर कभी तीव्र और कभी मंद, ये परिपाटी दिखती कैसे।।8।।

बहिन–

नहीं अपने प्रभु को देखा है, पर उनकी याद सताती है।
आत्मा को पढ़ने–सुनने से तो क्षणिक शान्ति ही आती है।।9।।
स्थाई सुख मिले मुझको, व्यवधान बीच के टूटे सब।
सिद्धों सम पूर्ण निराकुल हो, ज्ञाता–दृष्टा हो देखूँ सब।। 10।।

भैया–

तेरा प्रभु तो तेरे में है, चंचलता को कुछ कम कीजे।
निर्मल सुखमय शाश्वत स्वभाव उसका ही ध्यान सदा दीजे।।11।।
संकल्प–विकल्प तजो झूठे, थिरता स्वभाव में ही कीजे।
नहीं करने की कुछ चाह रहे, बस चेतन धन को पा लीजे।।12।।

बहिन–

है बात आपकी परम सत्य, सच्चे सुख का है मार्ग यही।
इसके चिंतन से पुण्य बंधे, अपनाने से हो मोक्ष मही।। 13।।
अब अन्य विकल्पों को तज कर, इस पर तो अमल करूँगी मैं।
पर मोक्ष में सुख मिले कैसा ? इतना अब और सुनूँगी मैं।।14।।

भैया–

इन्द्रियातीत है सुख वहाँ, शब्दों से वर्णन नहीं होवे।
सब जग का सुख इकट्ठा हो, उसकी तुलना में कम होवे।।15।।
बस इतना कहना काफी है, उसको क्षण भर भी जो देखे।
सब जग की इच्छा त्यागे वह प्रतिक्षण अनिमेष उसे पेखे।।16।।

बहिन–

है धन्य–धन्य जिनधर्म, जिसे सुनने से अनुपम शांति मिली।
आत्मा साक्षात् झलकता है, मन की सारी ही भ्रान्ति मिटी।। 17।।
निश्चय मुझको हो गया प्रभु, पाने से तृप्ति होवेगी।
दुःख का अस्तित्व नहीं होगा, परिणति निज में थिर होवेगी।। 18।।

(158) जिज्ञासु–जिनवाणी संवाद

जिज्ञासु– जिनवाणी जग मैय्या, जनम दुःख मेंट दो।
जिनवाणी जग मैय्या...।। 1।।

जिनवाणी– निज की शरणा ले के, जनम दुःख मेंट लो।
निज की शरणा ले के...।। 2।।

जिज्ञासु– कुन्दकुन्द से पुत्र तुम्हारे, गणधर जैसे भैय्या।
समवशरण सा महल तुम्हारा, तीर्थंकर से सैंया।।
जनम दुःख मेंट दो...।। 3।।

जिनवाणी–कुन्दकुन्द, गणधर, तीर्थंकर, निज महिमा दर्शावें।
निज आतम ही समवशरण, सुखदाता सीख सुनावें।।
जनम दुःख मेंट लो...।। 4।।

जिज्ञासु– बहुत दिनों से भटक रहा हूँ, ज्ञान बिना हे मैय्या।
निर्मल ज्ञान प्रदान सु कर दे, तू ही सच्ची मैय्या।।
जनम दुःख मेंट दो...।। 5।।

जिनवाणी– ज्ञान स्वभावी हो के चेतन, काहे को भटकाते।
द्रव्यदृष्टि अपना कर, खुद ही निज प्रभुता प्रकटावे।।
जनम दुःख मेंट लो...।। 6।।

जिज्ञासु– गुणस्थानों का अनुभव हमको, हो जावे जग मैय्या।
चढ़ें उन्हीं पर क्रम से हम फिर, होवें कर्म खिपैया।।
जनम दुःख मेंट दो...।। 7।।

जिनवाणी–अनन्त गुणमय चेतन तुम तो,गुणस्थानों से पार।
गुणस्थान संसार अवस्था तू सिद्धत्व आधार।।
जनम दुःख मेंट लो...।। 8।।

जिज्ञासु–मेंट हमारा जनम-मरण दुःख,इतनी विनती मैय्या।।
तुमको शीश त्रिलोक नवावें, तू है सच्ची मैय्या।।
जनम दुःख मेंट दो...।। 9।।

जिनवाणी– जनम-मरण पर्यायों के सब, स्वांगों से तू न्यारा।
निज में झुको लीन हो निज में, प्रगटे पद अविकारा।।
जनम दुःख मेंट लो...।। 10।।

जिज्ञासु– वस्तु एक अनेक रूप है, अनुभव सबका न्यारा।
हर विवाद का हल हो सकता, स्याद्वाद के द्वारा।।
जनम दुःख मेंट दो...।। 11।।

जिनवाणी– स्याद्वाद से निर्णय कर, निज रूप लखो जीव राजा।
सम्यक् रत्नत्रय प्रकटाकर, पावो सिद्ध समाजा।।
जनम दुःख मेंट लो...।। 12।।

(159) आराधक-आराध्य संवाद

आराधक–आज हम जिनराज तुम्हारे द्वारे आये।
हाँ जी हाँ हम आए-आए, आज हम....।। 1।।

आराध्य– आज तुम जीवराज निज के सन्मुख आओ।
हाँ जी हाँ तुम आओ–आओ, आज तुम....।। 2।।
आराधक– देखे देव जगत के सारे, तुमसा और न पाये।
पुण्य उदय से आज तुम्हारे दर्शन कर हर्षाये।। 3।।
आराध्य– पुण्योदय से दर्शन पाये, यहीं अटक मत जाओ।
प्रभु दर्शन से 'मैं भी प्रभु हूँ' सम्यक् श्रद्धा लाओ।। 4।।
आराधक–चार गति में भटकत–भटकत, मैं चिरकाल गँवाए।
अब तो स्वामी जनम–मरण का, दुखड़ा सहा न जाए।। 5।।
आराध्य– निज स्वभाव पहिचान बिना तुम, भव–भव में भटकाओ।
भव से रहित भाव निज लखकर, जनम अरु मरण नशाओ।।6।।
आराधक–भव सागर में नाव हमारी, कब से गोता खाए।
तुम ही स्वामी हाथ बढ़ाकर, तारो तो तिर जाए।। 7।।
आराध्य– विषय–कषायों के वश हो, भव सिन्धु में गोते खाओ।
छोड़ उन्हें निज में ही थिर हो, स्वयं पार हो जाओ। 8।।
आराधक– अनुकम्पा हो जाए प्रभु की, आकुलता मिट जाए।
हम सबकी प्रभु यही वीनती, चरण–शरण मिल जाए।। 9।।
आराध्य– आकुलता को देख–देख तुम, चेतन क्यों अकुलाओ।
पूर्ण निराकुल ध्रुव आश्रय से, स्वयं पूर्ण बन जाओ। 10।।

(160) पार्श्वदास–पार्श्वनाथ संवाद

दास–तुमसे लागी लगन, ले लो अपनी शरण, पारस प्यारा।
मेटो–मेटो जी संकट हमारा....।। 1।।

नाथ– कर कुदृष्टि भगन, ले लो अपनी शरण, भव्य प्यारे।
सारे संकट मिटेंगे तुम्हारे.... ।। 2 ।।

दास– निशदिन तुमको जपूँ, पर से नेहा तजूँ, जीवन सारा।
तेरे चरणों में बीते हमारा।। मेटो. ।। 3 ।।

नाथ– मत तुम मुझको जपो, मुझ सम निज को लखो,क्षण ये सारे।
तत्त्व चिंतन में बीतें तुम्हारे।। मेटो. ।।4 ।।

दास– अश्वसेन के राजदुलारे, वामादेवी के सुत प्राण प्यारे।
सबसे नेहा तोड़ा, जग से मुँह को मोड़ा, संयम धारा ।। मेटो. ।। 5 ।।

नाथ– आत्मा के पिता माँ न कोई, ममता अज्ञान से तेरे होई।
सबसे दृष्टि मोड़ो, निज को निज में जोड़ो, समता धारे।। मेटो. ।।6 ।।

दास– इन्द्र और धरणेन्द्र भी आए, देवी पद्मावती मंगल गाए।
आशा पूरो सदा, दुःख न पावे कदा, सेवक थारा ।। मेटो. ।। 7 ।।

नाथ– देवताओं ने स्तुतियाँ जो की, उससे महिमा नहीं आत्मा की।
महिमामय निज भाव, उसको दृष्टि में लाय,आशा भागे।। मेटो. ।।8 ।।

दास–जग के दुःख की तो परवाह नहीं है, स्वर्ग सुख की भी चाह नहीं है।
मेटो जामन–मरण होवे ऐसा यतन, पारस प्यारा।। मेटो. ।। 9 ।।

नाथ– बाह्य जग में कहीं दुख नहीं है, स्वर्ग मे सुख किंचित नहीं है।
दुःखदाता भरम, राग–द्वेष करम, इनको त्यागें।। मेटो. ।। 10 ।।

दास–लाखों बार तुम्हें शीश नवाऊँ , जग के नाथ तुम्हें कैसे पाऊँ।
पंकज व्याकुल भया, दर्शन बिन ये जिया, जीवन खारा।। मेटो. ।। 11 ।।

नाथ–सम्यग्दर्शन तथा ज्ञान–चारित्र, सुखमय पद तुमको देते पवित्र।
तुम भी इनको धरो, खुद ही नाथ बनो, निज संभारे।। मेटो. ।। 12 ।।

(161) सार समुच्चय सार

(हरिगीतिका)

इच्छा के योग बिना सभी, परिणमन होते स्वयं ही।
अतएव इच्छा रहित हो, ज्ञानी लहे निज सुख सही।। 1।।
है ध्यान निर्मल ज्ञान से, अरु ध्यान संवर-निर्जरा।
दोनों ही बस मुक्ति हेतु, अतः ज्ञानाभ्यास कर।। 2।।
हैं मूक पर निंदार्थ जो, निज श्लाघ्यता से दूर है।
ऐसे गुणों से युक्त जो, वे त्रिजग वंद्य कहे गये।। 3।।
शम तत्त्वज्ञान चरित्र सम्यक्, परम दुर्लभ धन कहा।
इन गुणों से हैं युक्त वे धनवान, निर्धन शेष है।। 4।।
संवेग है फल ज्ञान का, ऐसा कहा बुधजनों ने।
जो ज्ञान से धन चाहते, वे गहें विष त्यागें सुधा।। 5।।
अघ बंध कारक भोगों से, तृप्ति न होती किसी के।
वह देव अथवा इन्द्र ही, या चक्रधारी नृप भले।। 6।।
स्थिर रहे जब प्रशम में, तब आत्मा ही तीर्थ है।
वैराग्य नहीं उत्पन्न हो, तो तीर्थ सब निष्फल कहे।। 7।।
शक्ति लगे तप शुद्ध में, अरु ज्ञान क्षय में कर्म के।
उपयोग धन का पात्र हेतु, जिसका हुआ ज्ञानी वही।। 8।।
विद्वान भी जो नर अरे, संसार में मोहित हुए।
धन काय में लवलीन से, यह मोह का माहात्म्य है।। 9।।
नहिं काम सम व्याधि जगत में, मोह सम नहीं रिपु अरे।
नहीं क्रोध सम अग्नि कहीं, अरु ज्ञान सम सुख है नहीं।। 10।।

है इन्द्रियाँ वश में सदा, मन में न किंचित् दुष्टता।
है धर्म रत जो आत्मा, जीवन उसी का सफल है।। 11।।
जो बाह्य पुद्गल दीखते, वे थे न मेरे पूर्व में।
इस समय भी मेरे नहीं, मेरे न होंगे भावि में।। 12।।

(162) सुभाषित-विंशतिका सार

सम्यग्ज्ञान ही रूप है, श्रेष्ठ गुप्त धन जान।
ज्ञान भोग यश सुख दे, गुरुओं का गुरु ज्ञान।। 1।।
ज्ञान है बन्धु विदेश में, परम देव है ज्ञान।
राजाओं से पूज्य है, ज्ञान रहित पशु मान।। 2।।
है परोक्ष दर्शक तथा, नाशक संशय द्वन्द्व।
सबका लोचन शास्त्र है, नहिं जिसके वह अंध।। 3।।
नारिकेल सम जगत में, सज्जन को तू जान।
बाहर मृदु भीतर कठिन, दुर्जन बेर समान।। 4।।
अरे अनादर अन्य का, क्रोध दुर्वचन मान।
हठता लक्षण मूर्ख का, मान मान तू मान।। 5।।
सदा देख कर पग धरे, पिये सदा जल छान।
मन पवित्र आचरण कर, श्रुत सम्मत वच आन।। 6।।
करे न मैत्री दुष्ट संग, प्रीति भी न करेय।
उष्ण कोयला जलाता, ठंडा कृष्ण करेय।। 7।।
त्यागशीलता चतुरता, भय-लज्जा जिस माँहि।
अरु यात्रा रुचि हो नहीं, कीजे संगति नांहि।। 8।।

शुचि उदारता शौर्य अरु, सुख-दुःख में हो समान।
सच्चा प्रेमी चतुर हो, उसे मित्र तू मान।। 9।।
अजर अमर तू मानकर, साधे धन अरु ज्ञान।
मृत्यु केश पकड़े समझ, करे धर्म का ध्यान।। 10।।
मात-पिता, गुरु-स्वामी, सुत, भाई-सखा सु जान।
इन विरुद्ध नहिं आचरे, करे नहीं अपमान।। 11।।
ऐश्वर्य वाँछक पुरुष को, त्याज्य क्रोध भय मान।
निद्रा, तन्द्रा, अलसता, दीर्घ सूत्रता जान।। 12।।
कभी नहीं छोड़े पुरुष, सत्य क्षमा अरु दान।
अनसूया अरु धीरता अप्रमाद सुखखान।। 13।।
विद्या धन अरु शिल्प का, होय न तब तक ज्ञान।
जब तक मानव नहिं करे, देशाटन अभिराम।। 14।।
तुच्छ बुद्धि इस जगत में, मेरा-तेरा ठान।
जो उदार चित पुरुष है, पृथ्वी कुटुम्ब समान।। 15।।
बचपन में विद्या नहीं, यौवन में धन नाहिं।
वृद्धपने में पुण्य नहीं, मरते क्या वे कराहिं।। 16।।
कर का भूषण दान है, कंठ का भूषण साँच।
कर्ण का भूषण श्रुत-श्रवण, अन्य को डालो आँच।। 17।।
उद्यम, साहस, धैर्य बुधि, शक्ति पराक्रम जान।
जहाँ वर्तते हैं तहाँ, देव सहाई आन।। 18।।
धैर्य विपद में हो क्षमा, ऐश्वर्य के सद्भाव।
विक्रम होवे युद्ध में, सभा में वचन प्रभाव।। 19।।

शास्त्र श्रवण का हो व्यसन, यश के करता काज।
प्रकृति सज्जन पुरुष की, होती ये ही आज।। 20।।
सत्पुरुषों जैसा बने, अथवा पशु समान।
प्रतिदिन अपने चरित की, करत रहे पहिचान।। 21।।

(163) तत्त्वार्थ विंशतिका सार

(दोहा)

वृषभादिक चौबीस जिन, मंगल मूल महान।
स्वस्ति कारक होय दें, स्व-पर भेद-विज्ञान।। 1।।

(सोरठा)

जिनको कुछ भी चाहिये, ते मूढ़न सरदार।
ज्ञानी वांछा रहित हो, होते भव से पार।। 2।।
पराधीनता दुःखमय, आकुलता उपजाय।
विज्ञ मोक्षमार्गी भये, पर से दृष्टि हटाय।। 3।।
इष्ट जनों के योग में, जो नर हर्षे सार।
अज्ञानी रागी वही, रोवे आँसू ढार।। 4।।
जो अनिष्ट संयोग में कहे हाय दुःखकार।
तत्त्वज्ञान से शून्य वह, जावे नरक मँझार।। 5।।
तत्त्ववेत्ता होय जो, निश्चय राग निवार।
कर्म जाल को भेदकर, होता भव से पार।। 6।।
अनिष्ट योग दुखकार अरु इष्ट योग सुखकार।
अज्ञानी जन कहत हैं, ज्ञानी समता धार।। 7।।
संयोगों की प्रतीक्षा, करता ज्ञानी नाहिं।
कार्य करें दृढ़ चित्त हो, दृष्टि ज्ञायक माँहि।। 8।।
पर के पीछे भागते, पर नाहिं जाना जाय।
आत्म भान में तिष्ठते, स्वयं ज्ञान में आय।। 9।।

बहुत समय पर में गया, पर कछु बना न काम।
तन–धन–गृह बल ने कभी, दिया न सुख छदाम।। 10।।
राग–द्वेष ही रोग है, ज्ञान मात्र सुख साज।
ऐसा माने सो लहे, सुन्दर सिद्ध समाज।। 11।।
जेतो करो उपाय, काय व्याधि उतनी बढ़े।
सुःख ज्ञान निज पाय, करो उपेक्षा देह की।। 12।।
परमेष्ठी को समझकर, आत्म स्वरूप लहाय।
पर से लक्ष्य हटाय जो, परमेष्ठी बन जाय।। 13।।
इष्ट–अनिष्ट न कोय, ज्ञान नेत्र से देख तू।
ममता कबहुँ न होय, ज्ञान ज्योति प्रकाश में।। 14।।

(चौपाई)

स्व–पर विवेक करहु सुखदाई, यह अवसर चूकौ मत भाई।
पर की ओर दृष्टि दुखदाई, इस ही तैं भव भ्रमण कराई।।
द्रव्य–क्षेत्र निज काल स्वभावा, जाने सो संसार न पावा।
जिन स्व–चतुष्टय ज्ञान कराई, अनंत चतुष्टय सम्पद पाई।। 15।।

(सोरठा)

धन से सुख न छदाम, देखो दृष्टि पसारिकैं।
निज में ही आराम, ज्ञानी अनन्ते कहि गये।। 16।।

(दोहा)

ज्यों मिश्री मुख में रखे, तुरत मिष्ट रस पाय।
त्यों अन्तर्मुख दृष्टि से, तत्क्षण सुख विलसाय।। 17।।
नींबू खट्टा रटन से, खट्टा स्वाद न आय।
आत्मा सुख स्वरूप है, कथनी से नहिं पाय।। 18।।

पर दुखदाता है नहीं, राग-द्वेष दुखकार।
राग-देष के त्याग से, प्रकटे सुख अविकार।। 19।।
आधि-व्याधि-उपाधि सब देते हैं बहु ताप।
इनसे रहित सुतप करे, मिटें सभी संताप।। 20।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान अरु सम्यक् चारित्र युक्त।
ऐसे गुरु को नमन कर, होऊँ जग से मुक्त।। 21।।

(164) अक्षय तृतीया

दोहा- अक्षय तृतीया पर्व है, मंगलमय अविकार।
ऋषभदेव मुनिराज का, हुआ प्रथम आहार।।

(वीरछंद)

दीक्षा लेकर ऋषभ मुनीश्वर, छह महीने उपवास किया।
फिर आहार निमित्त ऋषीश्वर, जगह-जगह पर गमन किया।। 1।।
कोई हाथी-घोड़े वस्त्राभूषण, रत्नों के भर थाल।
ले सन्मुख आदर से आवें, देख साधु लौटें तत्काल।। 2।।
नहीं जानें आहार-विधि, इससे सब ही लाचार हुए।
अन्तराय का उदय रहा, तेरह महीने नौ दिवस हुए।। 3।।
धन्य मुनीश्वर धन्य आत्मबल, आकुलता का लेश नहीं।
तृप्त स्वयं में मग्न स्वयं में, किंचित् भी संक्लेश नहीं।। 4।।
उदय नहीं हो दुःख का कारण, यदि स्वभाव का आश्रय हो।
निज से च्युत हो दुःखी रहे, तो फिर उपचार उदय पर हो।। 5।।
दोष देखना किन्तु उदय का, कही अनीति जिनागम में।
उदय उदय में ही रहता है, नहिं प्रविष्ट हो आतम में।। 6।।

भेदज्ञान कर द्रव्यदृष्टि धर, स्वयं-स्वयं में मग्न रहो।
स्वाश्रय से ही शान्ति मिलेगी, आकुलता नहिं व्यर्थ करो।। 7।।
अशरण जग में अरे आत्मन्! नहीं कोई हो अवलम्बन।
तजकर झूठी आस पराई, अपने प्रभु का करो भजन।। 8।।
इन्द्रादिक से सेवक चक्री, कामदेव से सुत जिनके।
देखो एक समय पहले भी, नहिं आहार हुए उनके।। 9।।
हुई योग्यता सहजपने ही, सर्व निमित्त मिले तत्क्षण।
मंगल स्वप्नों का फल सुनकर, श्री श्रेयांस थे हर्ष मगन।। 10।।
देखा आते ऋषभ मुनि को, जातिस्मरण हुआ सुखकार।
नवधा भक्ति पूर्वक नृप ने दिया, इक्षुरस का आहार।। 11।।
पंचाश्चर्य किये देवों ने, रत्न पुष्प थे बरसाए।
पवन सुगंधित शीतल चलती, जय-जय से नभ गुंजाए।। 12।।
धन्य पात्र हैं धन्य हैं दाता, धन्य दिवस धनि है आहार।
दानतीर्थ का हुआ प्रवर्तन, घर-घर होवे मंगलाचार।। 13।।
तिथि वैशाख सुदी तृतीया थी, अक्षय तृतीया पर्व चला।
आदीश्वर की स्तुति करते, सहजहिं मुक्तिमार्ग मिला।। 14।।
ऋषभदेव सम रहे धीरता, आराधन निर्विघ्न खिले।
भोजन भी न मिले फिर भी नहिं, आराधन से चित्त चले।। 15।।
थकित हुआ हूँ भव भोगों से, लेश मात्र नहिं सुख पाया।
हो निराश सब जग से स्वामिन्, चरण-शरण में हूँ आया।। 16।।
यही भावना स्वयं-स्वयं में, तृप्त रहूँ प्रभु तुष्ट रहूँ।
ध्येय रूप निज पद को ध्याते-ध्याते, शिवपद प्रगट करूँ।। 17।।

(165) अक्षय तृतीया पर्व महान

अक्षय तृतीया पर्व महान, सीखें हम सब देना दान।
दान परम सुखदायक जान, हर्ष सहित हम देवें दान॥ टेक॥
आतम अनुभव निश्चय दान, इससे जीव बने भगवान।
पात्र-दान व्यवहार सुजान, आत्म-विशुद्धि होय महान॥
नित प्रभावना हो अम्लान॥ 1॥
श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, क्षमा, अमात्सर्य, शक्ति पिछान।
दाता के सम्यक् गुण जान, इनसे सहित पात्र पहिचान॥
देवें सदा चतुर्विध दान ॥ 2॥
अरे! कमाना और जोड़ना, खाना-सोना चहे तोड़ना।
हर्ष-विषाद इन्हीं में करना, लोभ-मान अंतर में धरना॥
ये तो हैं पशुवत् सब काम ॥ 3॥
हो मनुष्य तुम करो विवेक, ध्याओ निज शुद्धातम एक।
मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ना, रत्नत्रय की सीढ़ी चढ़ना॥
इससे ही होवे कल्याण ॥ 4॥
श्रमणोपासक श्रावक होवे, स्वयं साधु होवे सब दुख खोवे।
निज स्वभाव में रमता जावे, अविरल कर्म नशाता जावे॥
पावे सिद्ध दशा अम्लान ॥ 5॥
वज्रजंघ के भव में सार, भक्ति से मुनि को आहार।
दिया हुए गहरे संस्कार, ऋषभ मुनि को दिया आहार॥
पंचाश्चर्य हुए सुखदान॥ 6॥

हुआ सभी को हर्ष अपार, दान तीर्थ वर्ता अविकार।
धर्म–तीर्थ का जो आधार, गूँजा जग में जय–जय कार॥
हम भी गावें प्रभु गुणगान ॥7॥

(166) सच्ची दीपावली

दीप सम्यक्त्व जब परिणति में जले।
सच्ची दीपावली तेरी तब ही मने।। टेक।।
ज्ञान से ज्ञानमय ज्ञान को जानकर,
ज्ञानमय परिणति सच्चिदानन्दमय।
बाह्य दीपक से अन्दर उजाला न हो,
ज्ञान दीपक से चेतन भवन जगमगे।। 1।।
निज के वैभव का स्वयमेव प्रकाश हो,
मोह का अंधकार सुक्षण में भगे।
आशा तृष्णा का हो जाये निर्वाण शुभ,
ज्ञानमय तप से अंतर का शोधन बने।। 2।।
कालिमा सब विकारों की तत्क्षण मिटे,
स्वर्ण पाषाण तब शुद्ध सोना बने।
दृष्टा–ज्ञाता रहे लोक–अलोक का,
किन्तु उपयोग तो निज में तन्मय सने।। 3।।
तेल बत्ती से जो दीप जलता अरे,
कालिमा उगले वायु से वह जगमगे।
दीप मणि जैसे शाश्वत प्रकाशित रहे,
ना घटे, ना बढ़े कालिमा ना वमे।। 4।।
ठीक वैसे ही जो ज्ञान परलक्षी है,

है अथिर वह तो रागादि पैदा करे।
ज्ञान होता प्रतिष्ठित है जब ज्ञान में,
फिर वह शाश्वत सुखी रूप निज का बने।। 5।।
कीना अब तक उजाला अरे बाह्य में,
आत्मा का खजाना निहारा नहीं।
होवे त्रैलोक्य का नाथ उस ही समय,
स्व में तन्मय हो उपयोग जिस क्षण रमे।। 6।।

(167) रक्षाबंधन कथा

जाने अनजाने धर्म पर उपसर्ग न हो पाये।
शुभ रक्षाबंधन पर्व ये संकल्प जगाये।। टेक।।
ज्ञायक की हो न उपेक्षा, संयोगों की नहीं चिन्ता।
हों तृप्त स्वयं में क्षण-क्षण, नहीं हो किंचित् व्याकुलता।।
ज्ञेयों से भिन्न सु ज्ञायक, अनुभव माँही आये।। 1।।
है निरुपसर्ग शुद्धातम, उपसर्ग विकल्प सतावें।
ध्रुव ज्ञायक के आश्रय से, उपसर्ग न होने पावे।।
शुद्धातम ही है शरणा, ध्रुव में ही रम जाये।। 2।।
निज प्रभुता में नहीं शंका, तत्त्वों में भी निःशंका।
परिपूर्ण स्वयं में श्रद्धा, पर धर्मों में नहिं वांछा।।
अशुभोदय होने पर भी, नहीं ग्लानि हो पाये।। 3।।
चाहे जैसे नहीं माने, तत्त्वों का मर्म पिछाने।
चिगते को धर्म में दृढ़ कर, स्थितिकरण नित ठाने।।
धर्मी के प्रति भावों में, वात्सल्य उमगाये।। 4।।

अज्ञान को दूर भगाकर, शुभ तत्त्वज्ञान फैलाकर।
नित भेदज्ञान के द्वारा, आतम अनुभव प्रगटाकर।।
स्थिरता का हो उद्यम, उपयोग न भटकाये।। 5।।
हैं धन्य अकम्पन स्वामी, अरु धन्य सभी मुनिराजा।
भारी उपसर्ग भये भी, जो करें आपनो काजा।।
बलि आदिक प्रति भी जिनको, कुछ क्रोध न उपजाये।।6।।
श्री विष्णुकुमार मुनीन्द्रा, चैतन्य ऋद्धि के धारी।
विक्रिया ऋद्धि प्रति जिनको, थी सहज उपेक्षा भारी।।
वात्सल्य संघ प्रति जागा, वामन बनकर धाये।। 7।।
उपसर्ग दूरकर तत्क्षण प्रायश्चित लिया अविकारा।
निज ध्येय रूप को ध्याकर, अविनाशी शिवपद धारा।।
उन गुरुओं के चरणों में, नित शीश नवाये।। 8।।
श्री देव-शास्त्र अरु गुरुवर, साधक साधर्मी सुखकर।
मदवश प्रमाद के कारण, कहीं हो नहीं जाये अनादर।।
धर्मी का आदर करते, निज भाव सहज बढ़ जाये।। 9।।

(168) संकल्प दशक

हम सब ही मिलकर मंगलमय संकल्प करेंगे।
श्री रक्षाबन्धन पर्व पर संकल्प करेंगे।।
जिनशासन की रक्षा का हम संकल्प करेंगे।। टेक।।
जो आत्मघातक मोह रागादिक अरे परिणाम।
हैं भव-भ्रमण के कारण क्लेश देते आठों याम।।
इन दुर्भावों के नाश का संकल्प करेंगे।। 1।।

परमार्थ देव–शास्त्र–गुरुवर का करें श्रद्धान।
मंगलमयी परमार्थ धर्म की करें पहिचान।।
अविच्छिन्न भेदज्ञान का संकल्प करेंगे।। 2।।
अज्ञानवश देहादि में नहीं मग्न रहेंगे।
विषयों के लक्ष्य से नहीं कषाय करेंगे।।
अब स्वानुभव प्रगटाने का संकल्प करेंगे।। 3।।
पर को ही दुःख का कर्ता मान क्रोध नहीं करें।
अपने को पर का कर्ता मान, मान नहीं करें।।
ज्ञाता अकर्ता लखने का संकल्प करेंगे।। 4।।
निज ज्ञान वैभव से सतत आराधना करें।
जड़ बाह्य वैभव से अहो प्रभावना करें।।
सर्वस्व समर्पण का सत् संकल्प करेंगे।। 5।।
कुरीतियों का उन्मूलन हम ज्ञान से करें।
निज आचरण से धर्म का प्रसार हम करें।।
सम्यक् रत्नत्रय मार्ग का संकल्प करेंगे।। 6।।
हो अपने कष्टों की हमें परवाह ही नहीं।
साधर्मी के कष्टों प्रति लापरवाह हों नहीं।।
निज–पर कल्याण का अहो संकल्प करेंगे।। 7।।
अब आत्मा को जाना हमने सबसे ही न्यारा।
समतामयी यह धर्म हमको प्राणों–सा प्यारा।।
निर्ग्रन्थ पथ में बढ़ने का संकल्प करेंगे।। 8।।

अब भायें तत्त्वभावना निरपेक्ष नित रहें।
आया अवसर नहीं क्षणभर भी प्रमाद हम करें।।
अब सम्यक् आत्मध्यान का संकल्प करेंगे।। 9।।
संकल्प के बिना अनेक होते हैं विकल्प।
आकुलता रहती जीव तब तक हो न निर्विकल्प।।
ज्ञायक हैं ज्ञायक रहने का संकल्प करेंगे।। 10।।
सम्यक् पुरुषार्थ से ही परम साध्य को पायें।
जिनमार्ग पाया अब नहीं भव-भव में भ्रमायें।।
ध्रुव सिद्ध पद पायें यही संकल्प करेंगे।। 11।।

(169) रक्षाबंधन पर्व

धर्म पर्व है मंगलकारी, मन में अति हर्षायें।
हो निश्छल वात्सल्य अंतरंग, धर्म प्रीति उर लाएँ।। टेक।।
कर्मों के प्रेरे संसारी जीव महादुख पायें।
क्षमा भाव हो उन्हें देखकर नहीं दुर्भाव बढ़ाएँ।।
साम्य भाव धर धर्म दिपावें, उर वैराग्य बढ़ाएँ।। 1।।
अज्ञानी के भाव ज्ञानमय, क्यों कैसे हो पायें।
भेदज्ञान की कला प्रगटते, स्वयं शांत हो जायें।।
सहज अकर्त्ता ज्ञानी रहते विस्मय नहीं उर लाएँ।। 2।।
आत्माराधन में ही हम अब निज उपयोग लगाएँ।
सहज पराश्रित वैभाविक परिणाम स्वयं मिट जाएँ।।
हो एकाग्र तत्व अभ्यासी, शांति स्वयं में पाएं।। 3।।

धन्य अकंपन आदि मुनीश्वर, अद्भुत समताधारी।
तत्त्व विचार करें मनमाँही, वे चैतन्य विहारी।।
घोर उपसर्ग सहज ही जीता, किंचित् क्षोभ न लायें।। 4।।
वात्सल्य श्री विष्णु मुनि का अपनी चिंता नाहीं।
वामन वेश धरा था जिनने, भेदज्ञान उर माँही।।
दूर हुआ उपसर्ग संघ का, बलि आदि पछताएं।। 5।।
प्रायश्चित से विष्णु मुनीश्वर तप से कर्म नशाए।
श्री अकम्पन आदि मुनीश्वर चर्या को थे आए।।
नर-नारी आहार दान दें, मन में अति हर्षाये।। 6।।
तन-मन-धन है सर्व समर्पण, शुभ संकल्प हमारा।
हो प्रभावना आराधनमय, यही साध्य है प्यारा।।
भक्तिभाव से करें वंदना चरणों शीस नवाएँ।। 7।।
मोह न आवे, क्रोध न आवे, अहंकार नहीं आए।
माया-लोभ कभी नहीं आये, हास्यादिक नहीं आए।।
ज्ञान-ज्ञान में होय प्रतिष्ठित, यही भावना भाएं।। 8।।
तृप्त रहें हम अपने में ही, नित संतुष्ट रहाएं।
अक्षय प्रभुता, अद्भुत गुरुता, अपने में ही पाएं।।
नहीं प्रमाद फटकने पाए, सत्पुरुषार्थ जगाएं।। 9।।
रत्नत्रयमय धर्म हितंकर जग में अब फैलाएं।
दशलक्षण हैं कहे धर्म के, जीवन में अपनाएं।।
श्री जिनधर्म हमारा प्यारा, इसकी शान बढ़ाएं।। 10।।

(170) रक्षाबंधन पर संकल्प

रक्षाबंधन पर्व पर तुम, रक्षा का संकल्प करो।
जिनवाणी का मर्म समझकर, मोह अंधेरा दूर करो।। टेक।।
तत्त्वों का सम्यक् निश्चय कर, प्रगटाओ अब भेद-विज्ञान।
अन्तर्मुख हो करो स्वानुभव, होय सहज सम्यक् श्रद्धान।।
भाओ नित वैराग्य भावना, उत्तम संयम ग्रहण करो।। 1।।
नेत्र समान सावधानी से, रक्षा करना संयम की।
दोष न लगने पावे कोई, नहीं परवाह करो जग की।।
तन से भी निर्मम होकर तुम, निर्मल आतम ध्यान करो।। 2।।
धन्य अकम्पन आदि मुनीश्वर, अद्भुत समता भाव रखा।
लक्ष्य किया नहीं उपसर्गों का, अपना ज्ञायक रूप लखा।।
वे गुरु हैं आदर्श हमारे, सम्यक् समता भाव धरो।। 3।।
निज तन सम ही रक्षा करना, अपने प्रिय साधर्मी की।
कभी उपेक्षा हो नहीं पावे, छोटे भी साधर्मी की।।
विष्णु कुमार मुनीश्वर जैसा, वात्सल्य उर मांहि धरो।। 4।।
हर्ष भाव से सेवा भक्ति, करना अपने गुरुजन की।
संस्कार दे छोटों को भी, राह दिखाना शिव सुख की।।
वात्सल्य से ही प्रभावना, जिनशासन की सदा करो।। 5।।
भाओ अविरल तत्त्व भावना, किंचित् हो न विराधना।
हो निशंक स्वाश्रय से ही अब, करो सहज आराधना।।
उत्तम अवसर चूक न जाना, कर्म कालिमा दूर करो।। 6।।

(171) श्रुतपंचमी महत्व

श्री वीर स्वामी के कुछ वर्ष बाद,
मुनीन्द्र जु धरसेनाचार्य हुए।
आत्मज्ञानी तथा आत्मध्यानी महा,
अष्टांग निमित्त के ज्ञाता वे थे।। 1।।
अपने ज्ञान से जाना उन्होंने सही,
बुद्धि होगी अल्प जीवों की बाद में।
फिर ये श्रुतज्ञान आगे को कैसे चले,
ऐसी चिन्ता हुई उनको उस ही समय।।2।।
बस इसी बुद्धि करुणा से प्रेरित हुए,
और भेजा समाचार महिमा नगर।
दो मुनीश्वर मुझे ऐसे भेजो तुरत,
जो होवें तीक्ष्ण बुद्धि के घर।। 3।।
जिस दिन मुनि युग्म आने ही वाले थे वहाँ,
श्री धरसेन ने स्वप्न देखा सही।
उनके चरणों में बैलों की जोड़ी पड़ी,
देवता श्रुत के जयवंत निकला ये स्वर।।4।।
बस सुबह ही मुनीश्वर वहाँ आ गये,
फिर भी आचार्य ने उनको परखा सही।
दोनों को ही सफल देखा आचार्य ने,
होकर हर्षित सहज ज्ञान गुरु ने दिया।।5।।

बस उसी ज्ञान से जैन आगम रचा,
श्री पुष्पदंत अरु भूतबलि स्वामी ने।
छह खण्डों में रचना थी उसकी हुई,
आज चतुर्विध संघ ने पूजन किया।। 6।।
बस इसी से चला ये महापर्व है,
श्रुत परम्परा इस दिन लिखित हो गया।
बहुत बहुमान से इसको नित ही पढ़ें।
इनके अध्ययन से आत्मज्ञान करें।। 7।।

(172) श्रुत पंचमी

श्रुत को पंचम भाव में जोड़े,
तब श्रुत पंचमि पर्व मने।
मिथ्यात्व तिमिर का नाश होय,
सम्यक् श्रुतज्ञान की ज्योति जगे।। 1।।
श्रुत के दो भेद द्रव्य-भाव कहे,
फिर बारह अंग बताए हैं।
उन सबका सार उन्हीं पाया,
जो निज पर दृष्टि लगाए हैं।। 2।।
है द्वादशांग का तत्त्व यही,
पर से हटकर निज में आना।
रागादि विकल्प अरु भेद रहित,
बस निज अभेद में रम जाना।। 3।।

पहिचाना, जाना, रम जाना,
निश्चय रत्नत्रय ये ही है।
मुक्ति का सीधा पंथ यही,
सुख का सोपान भी ये ही है।। 4।।
अतएव आत्मज्ञानी को भाव,
श्रुत केवली ग्रन्थों में गाया।
अरु द्वादशांग के पाठी को,
श्रुत केवली द्रव्य से बतलाया।। 5।।
जो केवल निज आतम जाने,
हो लोकालोक का वह ज्ञाता।
अरु आत्मज्ञान बिन बहु आगम,
पढ़ भी भव में ही दुख पाता।। 6।।
अपने श्रुतज्ञान को रे भाई,
अब तक तो पर में ही जोड़ा।
अतएव भाव औदयिक हुये,
कर्मों से नाता नहीं तोड़ा।। 7।।
बस झड़े पुराने नये बँधे,
नहीं अन्त अभी तक आया है।
सुख की इच्छा करने पर भी,
केवल दुख ही दुःख पाया है।। 8।।
अतएव एक पुरुषार्थ यही,
पर्यायों में मध्यस्थ बने।

सहज ज्ञान में आ जावे तो,
राग-द्वेष वहाँ नहीं करे।। 9।।
ज्ञानादि गुणों का गुणी धनी,
निज आतम का बहुमान करे।
सम्पूर्ण समर्पण हो अभेद को,
तब ही करुणा भाव पले।। 10।।
आनन्दमयी शिवपद पावें,
शिवपद का पंथ सु प्रकटावें।
जिसको पाकर भवि प्राणी भी,
निश्चित भव-सागर तिर जावें।। 11।।
है जिनवाणी तो निमित्त मात्र,
पुरुषार्थ स्वयं को करना है।
पढ़ जिनवाणी को वाच्य,
आत्मा पर निज दृष्टि धरना है।। 12।।
'आत्मन्' बहुमान आत्मा का ही,
जिनवाणी बहुमान सही।
निज में ही शाश्वत लीन रहो,
जिनवाणी करे पुकार यही।। 13।।

(173) श्री वासुपूज्य चरित्र

जयवन्तो वासुपूज्य प्रभुवर अनुसरण करूँ।
होकर विरक्त पर से निज का अनुभवन करूँ।।
निज आनन्द निज में ही अहो प्रत्यक्ष दिखाया।
धनि-धनि यौवन में ही अहो ब्रह्मचर्य अपनाया।।

हो पहले बालयति तीर्थंकर बारहवें स्वामी।
चम्पापुरी में पंचकल्याणक हुए नामी।।
पूरब भव में पद्मोत्तर राजा वैभववान थे।
जिनभक्त शान्तचित्त ज्ञानी नीतिवान थे।।
रहती सहज ही भावना संयम मैं कब धरूँ।।जयवन्तो.।।
जिनदेशना सुनकर अरे निस्सार लख संसार।
भव-भव दुःख मूल क्षणभंगुर दुर्भोग अति दुःखकार।।
स्वप्न के राज्य सम वैभव संयोग सब जग के।
मिथ्या इनकी प्रीति बाधक ये होते शिवमग के।।
त्रिलोक में साँचा शरण निज आत्मा ही है।
जिनवर कहें तारण तरण शुद्धात्मा ही है।।
ध्रुव आत्मा अक्षय-अनन्त सुख प्रदाता।
संयोग ही जिसमें नहीं वियोग क्यों आता?
निश्चय किया निर्ग्रन्थ हो आराधना करूँ।।जयवन्तो.।।
करके क्षमा सब जीवों से भी माँग कर क्षमा।
परिग्रह तज केशों का लुंचन कर राग को वमा।।
होती थी योग्य क्रिया,निष्क्रिय आप थे रहते।
ज्ञेयों से अति निरपेक्ष ज्ञायक आप अनुभवते।।
आनन्द आनन्द में झूलते, समतामय विचरते।
भायीं थीं सोलह भावना, निज पद भजते भजते।।
तीर्थंकर प्रकृति बाँधकर महाशुक्र सुर भये।
थी पद्म लेश्या इन्द्रपद विरक्त पर रहे।।
थी भावना निज साधना परिपूर्ण कब करूँ।।जयवन्तो.।।

चम्पानगरी वसुपूज्य नृप रानी जयावती।
अद्भुत शोभा हुई रत्नों की धारा वर्षती।।
प्रभु जन्म के समय इन्द्रों के आसन कम्पाये।
क्षणभर को तो नरकों में भी आनन्द थे छाये।।
आह्लादकारी अद्भुत उत्सव इन्द्रों ने किया।
मेरु शिखर पाण्डुक शिला पर था नह्वन किया।।
इन्द्राणी शोभा के लिए जो भूषण पहनाये।
प्रभु की शोभा से शोभित हो वे भूषण मुस्काये।।
करते थे सुरगण नृत्य मैं भी भक्ति चित धरूँ।। जयवन्तो.।।
वृद्धिगंत मोहता था सबको प्रभु शरीर भी।
अपने को आप अनुभवते लेकिन अशरीर ही।।
कुछ क्षण सम बीते थे अठारह लाख वर्ष भी।
था जन्मदिन का उत्सव नगरी स्वर्ग सम दिखती।।
श्रृंगार राग रंग प्रसंग सर्व ओर थे।
चैतन्य के चिन्तन में पर स्वामी विभोर थे।।
जागा था जाति स्मरण अरु उमगी विरक्ति थी।
लौकान्तिक आ अनुमोदते नगरी थी देखती।।
अन्तर्मुख मौन कह रहे प्रभु दीक्षा मैं धरूँ।। जयवन्तो.।।
आओ भवि प्राणी आओ इस आनन्दमार्ग में।
कुछ सोच या संकोच नहीं करना इस मार्ग में।।
नहिं देखो जग की ओर निज की ओर तुम देखो।
मत मिथ्या विकथाएँ सुनो निज हित-अहित देखो।।

दु:ख भी बाँटें नहीं मोहीजन सुख तो क्या दे सकते।
सोचो मोहांध कैसे शिवमारग दिखा सकते।।
जग की अपेक्षा व्यर्थ है कल्याण अब करो।
हो साहसी स्व-विवेक से शिवमार्ग में बढ़ो।।
चढ़ रत्नमाला चल दिए प्रभु मैं नमन करूँ।।जयवन्तो.।।
वह जन्मदिन था धनि-धनि दीक्षा का दिन हो गया।
दीक्षा लेते ही चौथा ज्ञान प्रगट हो गया।।
प्रगटी अनेक ऋद्धियाँ उपवास दो दिन का।
था भाग्य सुन्दर नृप का प्रथमाहार देने का।।
पंचाश्चर्य थे हुए, महिमा महान थी।
महिमा कहूँ कैसे प्रभु के आत्मध्यान की।
क्रोधादि शत्रु जीत कर परमात्मा हुए।
सुन देशना जिनराज की प्रतिबुद्ध भवि हुए।।
प्रतिबुद्ध शुद्धबुद्ध हो मैं भी स्वपद धरूँ।।जयवन्तो.।।
सौभाग्य चौवन लाख वर्ष तक विहार कर।
वर्ताया धर्मतीर्थ जो तिहुँलोक में सुखकर।।
निर्मुक्त हो परिशुद्ध हो प्रभु सिद्धपद पाया।
अविकारी ब्रह्मचारी फिर भी नाम चलाया।।
गुणगान करते आपका दुर्मोह दलमले।
वैराग्यभाव पुष्ट हो उत्साह प्रभु बढ़े।।
आदर्श लेकर आपका मैं आप पद भजूँ।
निश्चिंत हो जग के प्रपंच दु:खमय तजूँ।।
हो लीन ब्रह्मरूप में, मैं ब्रह्मचर्य धरूँ।।जयवन्तो.।।

आनन्दमय निजभाव की आराधना सुखमय।
आनन्दमय निज साध्य की है साधना सुखमय।।
चिन्ता नहीं उपसर्ग हों मैं शान्त रहूँगा।
निजमाँहि निज से ही सहज संतुष्ट रहूँगा।।
वैभव मिले ख्याति मिले विरक्त रहूँगा।
निरपेक्ष हो कृतकृत्य हो नित तृप्त रहूँगा।।
ध्याऊँ मैं सहजभाव से ध्रुव सहजभाव को।
निर्द्वन्द्व हो निर्ग्रन्थ हो नाशूँ विभाव को।।
पाऊँगा परमभाव प्रभु संकल्प मैं करूँ।। जयवन्तो.।।

(174) श्री मल्लिनाथ वैराग्य

देखो निमित्त राग का असमर्थ ही रहा।
वैराग्य होने योग्य था वह सहज हो गया।।
सजधज कर दूल्हा बनकर निकले मल्लि कुमार।
नगरी की शोभा देख जागा प्रभु को यह विचार।। टेक।।
मैं तो हूँ स्वयंसिद्ध ज्ञानानन्दमय आतम।
परभावों से निरपेक्ष सहजपूर्ण परमातम।।
आया अपराजित स्वर्ग से मैं मोक्ष के लिए।
क्यों चल दिया फँस राग में विवाह के लिए।।
विपरीत बाह्य रूप जिसके पीछे आह है।
लज्जा जनक चिन्ताओं का घर ये विवाह है।।
धिक्कराने और त्यागने के योग्य यह विकार।। नगरी.।।

परिवार तो सिरभार है दुर्मोह का कारण।
मकड़ी के जाल सम अरे कुमरण का आयतन।।
जिसको माने जग वैभव वह परिग्रह तो धूल है।
आरम्भ हिंसा क्लेशमय जहरीला शूल है।।
दाम्पत्य जीवन में अरे सुख का ही हो दमन।
पड़ता रहे नित वासना की आग में ईंधन।।
धनि धनि वे बालयती जिन कीना ही नहीं स्वीकार।। नगरी.।।
कहते हैं मूढ़ भोग भोग–काल में सुखकर।
हो जावें पीछे से भले परिपाक में दुःखकर।।
पर भोग तृष्णारूप वे सुखरूप क्या होंगे।
घिनरूप जो तन अंग वे रमणीय क्या होंगे?
इन भोगियों की दुर्दशा प्रत्यक्ष ही देखो।
मरते हैं तड़पते हुए लखकर जरा चेतो।।
इन भोगों की तो कल्पना भी मात्र है दुःखकार।। नगरी.।।
अपने को आप भूलकर पर में ही भ्रमाया।
सब लोक में फिरता रहा सुख लेश ना पाया।।
सौभाग्य कुछ सुयोग से नर जन्म पाया था।
था वैश्रवण राजा सहज जिनधर्म भाया था।।
पाया रत्नत्रय धर्म आनन्द उर न समाया।
सम्यक् हुआ पुरुषार्थ जाननहार जनाया।।
धनि धनि सुगुप्ति मुनि अहो कीना परम उपकार।। नगरी.।।

वट का विशाल वृक्ष वन में देखते गया।
बिजली गिरी क्षण मात्र में ही नष्ट वह हुआ।।
लखकर विरक्त हो धरी मुनिधर्म की दीक्षा।
निरपेक्ष परमानन्दमय नहीं कोई अपेक्षा।।
आनन्दमय आराधना, आनन्दमय जीवन।
आनन्दमय ही साध्य अरु, आनन्दमय साधन।।
आनन्दमय शुद्धात्मा आधेय अरु आधार।। नगरी.।।
था भाव जगाया कि जीव सर्व सुखी हों।
शुद्धात्म-बोध पाय जीव सर्व सुखी हों।।
जिनधर्म की होवे अहो अदभुत् प्रभावना।
भाई गयी ऐसे ही सोलहकारण भावना।।
तब बंध गयी तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति।
नहीं हो सकी निःशेष फिर शुभ राग की विकृति।।
पाया समाधिकर विमान स्वर्ग का असार।। नगरी.।।
अनुकूलताएँ सर्व थीं वैभव महान था।
संयम की शक्ति थी नहीं, सत् श्रद्धान ज्ञान था।।
शिवलोक था समीप पर नरलोक में आया।
कल्याणकों का पूज्यपना सहज ही पाया।।
होकर पवित्र पूज्य क्यों मैं हीनता लाऊँ?
तोडूँ ये राग बंध अब निज ध्येय को ध्याऊँ।।
अवसर मिला पूरी करूँ निज साधना शिवकार।। नगरी.।।

शोभा स्वयं की देखते निहाल नित रहूँ।
निज में निजानन्द वेदते नित तृप्त मैं रहूँ।।
प्रगटे स्वयं प्रभुता अहो अक्षय अनन्त जो।
रत्नत्रयमय शिवमार्ग फिर मिल जावे सर्व को।।
धारूँ अभी निर्ग्रन्थ पद नहिं देर करूँगा।
होके जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी मुक्ति वरूँगा।।
परभाव सर्व हेय हैं ब्रह्मचर्य ही है सार।। नगरी.।।
ब्रह्मचर्य ही निर्दोष है निष्पाप है निष्काम।
निःशल्य है निर्द्वन्द्व है स्वाधीन आनन्दधाम।।
निस्ताप ब्रह्मचर्य में ही सर्व को अभय।
निर्मान ब्रह्मचर्य में ही सर्व की विनय।।
निःकषाय ब्रह्मचर्य ही है सत्य साधना।
तिहुँलोक पूज्य ब्रह्मचर्य सहज पावना।।
है ब्रह्म जैसा ब्रह्मचर्य ही शिवमयी शिवकार।। नगरी.।।
तत्काल ही लौकान्तिक देव शोभते आये।
अनुमोदना करते भये बहु हर्ष बढ़ाये।।
हे देव धन्य आपका उत्तम विचार है।
प्रभु ज्ञानमय वैराग्य ही तिहुँ जग में सार है।।
है भावना ऐसा सुअवसर हम सभी पावें।
आराधना ऐसी करें सब कर्म खिपावें।।
हुए विरक्त मल्लि जिन शोभें परम अविकार।। नगरी.।।

लौकान्तिक तो निज थल गये इन्द्रादि सुर आये।
आनन्द में हो मग्न तप कल्याण मनाए।।
जब भाव बदले नाथ के सब रंग ही बदले।
शिविका चढ़े जब नाथ तब आनन्द रस उछले।।
वह पालकी पहले तो राजाओं ने उठाई।
विद्याधरों ने सात पग फिर देवों ने पाई।।
लेके चले आकाश में आनन्द हृदय धार।। नगरी.।।
वन में विराज नाथ सर्व संग परित्यागा।
कर केश लौंच भाव-निज, निज भाव में पागा।।
छह दिन रहे छद्मस्थ केवल लक्ष्मी प्रगटाई।
देवों ने समवशरण रचना की सबको सुखदाई।।
प्रगटाया दिव्य ध्वनि से धर्मतीर्थ सुखकारी।
हो कर्म मुक्त पायी पंचमगति मंगलकारी।।
हे जिनवर सहज नमन पावें ऐसा पद अविकार।। नगरी.।।

(175) श्री नेमिकुमार निष्क्रमण

श्री नेमि प्रभु की वंदना कर, भक्ति भाव से।
प्रभु-सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से।। टेक।।
देखा पशुओं को रुका हुआ, प्रभु हो गये गम्भीर।
धिक्-धिक् ऐसी विषयांधता, दीखे न पराई पीर।।
इन भोगों की अग्नि में, कितने जीव हैं जलते।
और भोगी भी परिपाक में, भव-भव में दुःख सहते।।
पीड़ा है विषय-कषायों की, मृत्यु से भंयकर।

हो सहने में असमर्थ तड़फे, मूढ़ जन फँसकर।।
दोई भव नाशें, मोही व्यर्थ मोह भाव से।
प्रभु सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से।। 1।।
ऐसी शोभा से क्या जिसमें, निज-पर का पीड़न हो।
ऐसी शादी से क्या जिसमें, दुःखमय भव बंधन हो।।
स्वतंत्रता का हो हनन, आराधना का घात।
परिग्रह के ग्रहण में होते, अगणित दुखःमय उत्पात।।
रहता है चंचल चित्त सदा, ही परिग्रहवान का।
विषयों में जो आसक्त उनके, नित ही मलिनता।।
सुख लेश भी पावे नहीं, अज्ञानभाव से।।प्रभु...।। 2।।
पापों के बीज इन्द्रिय-सुख, तो दुःखमय ही अरे।
परलक्षी इन्द्रिय-ज्ञान भी, अज्ञान जान रे।।
अतीन्द्रिय सुख ही सुख, जो पाते हैं जितेन्द्रिय।
वे ही शिवसाधक हों, जिन्हें हो ज्ञान अतीन्द्रिय।।
अतीन्द्रिय ज्ञानानंदमय, शुद्धातम ही है सार।
है सहज ज्ञेय-ध्येय रूप, मुक्ति का आधार।।
शुद्धात्मा प्रभु नित्य निरंजन स्वभाव से।। प्रभु..।। 3।।
तृप्ति सहज ही प्राप्य निज में, निज से ही सदा।
है झूठी कल्पना भोगों से, तृप्ति न कदा।।
रहते अतृप्त, मूढ़ आत्मज्ञान के बिना।
कितने भव यूँ ही बीत जावें संयम के बिना।।
होते हैं हास्य पात्र जो ले दीप भी गिरते।

पाकर भी आत्मज्ञान फिर जग-जाल में फँसते।।
कल्याण का अवसर गँवावे, मूढ़ भाव से।।
प्रभु-सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से।। 4।।
संयममय जीवन ही अहो, ज्ञानी को शोभता।
बढ़ती प्रभावना सहज, होती है पूज्यता।।
जो त्यागने के योग्य ही, फिर क्यों करूँ स्वीकार।
इससे अधिक क्या कायरता, नरभव की जिसमें हार।।
क्षण भी विलम्ब योग्य नहीं, कल्याणमार्ग में।
निरपेक्ष हो बढ़ना मुझे, अब मुक्तिमार्ग में।।
निर्ग्रन्थ हो आराधूँ निज पद सहजभाव से।।।।प्रभु..।।5।।
तोड़े कंगन के बंधन, सिर का मौर उतारा।
धनि-धनि प्रभुवर का भाव, जिससे काम था हारा।।
जिन-भावना भाते हुए, गिरनार चल दिए।
आसन्नभव्य दीक्षा लेने साथ चल दिए।।
गूँजा था जय-जयकार उत्सव धर्ममय हुआ।
तपकल्याणक का शुभ नियोग देवों ने किया।।
साक्षात् दिगम्बर हुए, अत्यन्त चाव से।।प्रभु..।।6।।
ज्यों ही जाना यह हाल, राजुल हो गयी विह्वल।
होकर सचेत शीघ्र ही, जागृत किया निज बल।।
परिवारी जन तो रागवश, अति खिन्न चित्त थे।
शादी करें किसी और से, समझावते यों थे।।
बोली राजुल मत गालियाँ, मम शील को तुम दो।

सतवंती नारियों का केवल, एक पति ही हो।।
नाता जोड़ा मैंने अब केवल, ज्ञायकभाव से।।प्रभु..।।7।।
व्यवहार में भी भाव से, श्री नेमि स्वीकारे।
दर्शाकर श्रेयोमार्ग वे, गिरनार पधारे।।
उनका ही पावन मार्ग, अंगीकार है मुझे।
उनके द्वारा त्यागे भोगों, की चाह नहीं मुझे।।
आनंदित हो मोदन करो, मैं होऊँ आर्यिका।
छेदूँ स्त्रीलिंग नाशूँ, दुखमय बीज पाप का।।
धारूँ निवृत्तिमय दीक्षा अति हर्षभाव से।। प्रभु....।।8।।
मंगलमय ऐसे अवसर में, आँसू ना बहाओ।
परमानंदमय जिनमार्ग, कुछ विकल्प मत लाओ।।
आदर्श रूप नेमि प्रभु का अनुसरण करो।
परभावों से है भिन्न आतम अनुभवन करो।।
होता नहीं स्त्री-पुरुष व क्लीव आत्मा।
ध्रुव एक रूप ज्ञानमय है शुद्ध आत्मा।।
परमार्थ प्रतिक्रमण करो, सहज भाव से।
प्रभु सम ही भाऊँ भावना, छूटूँ विभाव से।। 9।।
कुछ मोहवश संकोचवश, भवि चूक ना जाना।
साधो परम उत्साह से, शंका नहीं लाना।।
उत्कृष्ट समयसार से, कुछ अन्य नहीं है।।
अनुभव प्रमाण स्वयं करो, धोखा नहीं है।।
शुद्धात्मा के ध्यान में, सब कर्म नशायें।

आत्मा बने परमात्मा गुण सर्व विलसायें।।
अनुभूत-मग दर्शाया प्रभु, वीतरागभाव से।। प्रभु.. ।। 10 ।।
सम्बोधन करके यों राजुल, गिरनार को गई।
वन्दन कर नेमिनाथ को, वह आर्यिका हुई।।
नेमीश्वर तो मुक्ति गये, वह स्वर्ग को गई।
पावन गाथा वैराग्यमय, विख्यात है हुई।।
प्रेरित करे भव्यों को, सम्यक् निवृत्ति मार्ग में।
मैं भी विचरूँ साक्षात् प्रभु निर्ग्रन्थ मार्ग में।।
ये सहज सफल हो, भावना अंतरंग भाव से।। प्रभु.... ।। 11 ।।

(176) राजुल का वैराग्य

राजुल – भोगों में संग का वचन हुआ, तो क्यों न साथ संयम में हो।
मत खेद करो अरु रो-रोकर, मेरे पथ में अपशकुन करो॥ 1 ।।
अब काललब्धि आई मेरी, अपने निश्चय पर अडिग रहूँ।
नेमीश्वर के चरणों में ही, दीक्षा लेकर कल्याण करूँ॥ 2 ।।
मुक्तिमार्ग में लग जाना ही, अहो! आत्म-उपकार है।
और लगाना भव्यजनों को, ज्ञानी का व्यवहार है॥ 3 ।।
विषय-कषाओं का तो आत्मन्, अनुमोदन भी नहीं करना।
मोह छोड़ना राग जीतना, द्वेष किसी से नहीं धरना॥ 4 ।।
द्रव्यदृष्टि से देखो जब ही, सभी दिखें भगवान हैं।
देखो यदि पर्यायों से भी तो, भूले भगवान हैं॥ 5 ।।

तिरस्कार मत करो किसी का, होकर क्षुब्ध अहो आत्मन्।
दया करो अरु समता लाओ, सुख का मार्ग यही आत्मन् ॥ 6॥
सिद्ध समान स्वयं को अरु, सबको देखो अपने ही सम।
चलो वीतरागी के पथ पर, मत लाओ परिणाम विषम॥ 7॥
अंतरंग में आप रूप अपने को, नित अनुभवन करो।
तृप्त रहो संतुष्ट रहो भवि, मुक्त रूप को वरण करो॥ 8॥
महाभाग्य जिनवाणी पायी, अब तत्त्वों का ज्ञान करो।
समझो हेयादेय सहज तुम, स्व-पर भेद-विज्ञान करो॥ 9॥
अक्षय परमानंदमय आतम, व्यर्थ न बाहर भटकाओ।
करो अनुसरण परमातम का, निज आतम में रम जाओ॥ 10॥

(177) श्री पार्श्व प्रभु गाथा

पार्श्व प्रभु की जीवन गाथा सबको आनन्दाता है।
भेद-विज्ञान जगाती उर में समता भाव प्रदाता है।।टेक।।
देखो दोनों सगे भाई थे कमठ और मरुभूति नाम।
असि और कवच समान किन्तु थी दोनों की प्रकृति अति वाम।।
योग्य जान मरुभूति को राजा ने मंत्री बना लिया।
ईर्ष्यावश अपमान समझ कर कमठ व्यर्थ ही खिन्न हुआ।।
व्यर्थ विकल्पों से अज्ञानी महा दुख ही पाता है।।1।।
भूपति एक बार मंत्री संग बाह्य युद्ध में गया हुआ।
समझ स्वयं को ही राजा तब कमठ महामदमत्त हुआ।।
मरुभूति की सुन्दर स्त्री देख दुष्ट था ललचाया।
बीमारी का छल करके तब लता कुंज में बुलवाया।।
धिक्-धिक् है इस काम भाव को महा अनर्थ कराता है।।2।।

शील भंग करके भी मूरख हरषाया अपने मन में।
पाप कमाया धर्म गँवाया अपयश पाया जन-जन में।।
नृप ने आकर जाना जब ही काला मुँह कर कढ़वाया।
जंगल में जा हुआ तापसी मिथ्यामत में भरमाया।।
जैसी करनी करता है वह फल वैसा ही पाता है।। 3।।
भावुकता वश कभी किसी की बातों में नहीं आ जाना।
सावधान रहना जिससे फिर पड़े न पीछे पछताना।।
नव बाढ़ों का पालन करना इकले कहीं नहीं जाना।
भूल चूक हो जाये कदाचित् सेठ सुदर्शन सम रहना।।
आत्मन्! शील धर्म लोकोत्तम भाग्यवान ही पाता है।। 4।।
अरे! मोहवश मरुभूति फिर भी तो दुष्ट समीप गया।
घर चलने की करे प्रार्थना भ्रात-प्रेम में मूढ़ हुआ।।
क्रोधित होकर मरुभूति पर भारी पत्थर पटक दिया।
प्राण पखेरू उड़े तुरत ही वन में हाथी जाय हुआ।।
प्रीति नहीं दुर्जन के प्रति तो माध्यस्थ्य ही भाता है।। 5।।
इक मुनिवर से हाल जानकर राजा ने वैराग्य लिया।
संघ सहित सम्मेदशिखर वंदन के लिये प्रयाण किया।।
वन में जन समूह लखकर के हाथी अति अकुलाया था।
होकर मत्त उपद्रव करता जनसमूह घबराया था।।
मुद्रा सौम्य देख मुनिवर की सहज शान्त हो जाता है।। 6।।
मुनिवर संबोधे रे गज तू नर से तो तिर्यंच हुआ।
मिथ्या मोह छोड़ दे अब भी जिससे भव में दुःखी हुआ।।

तू तो स्वयंसिद्ध परमातम, नित्य निरंजन देव है।
परभावों से शून्य ज्ञान-आनन्दमयी स्वयमेव है।।
भिन्न स्वाँग हैं रागादिक दुर्भाव प्रगट दुःखदाता है।।7।।
सम्यग्दर्शन मूल धर्म का समझ धार आनन्दमयी।
जिससे मोक्ष प्रदायक चारित्र प्रगटे ज्ञान-विरागमयी।।
सुनकर दिव्य देशना गुरु की हाथी परम प्रसन्न हुआ।
हुआ स्वानुभव मंगलकारी सहज स्वयं में तृप्त हुआ।।
सहज उदास विषय भोगों से गज श्रावक हो जाता है।। 8।।
भूल नहीं त्रस जीव संहारे करुणापूरित चित्त हुआ।
सत्य अचौर्य शीलदृढ़ पाले परिग्रह माँहि विरक्त हुआ।।
यथायोग्य प्रासुक जल पीवे सूखे तृण पल्लव खावे।
देख शोध कर मारग चाले, नहीं दुर्भाव हृदय लावे।।
पाँच परम गुरु सुमरै निशदिन चित्स्वरूप निज भाता है।। 9।।
जल पीते इक दिन कीचड़ में फँसा निकल नहीं पाया था।
लिया समाधिमरण तब ज्ञानी भेद-विज्ञान सु भाया था।।
डसा सर्प कुर्कट ने आकर जो था अरे कमठ का जीव।
बैर महादुःखदायी जग में जान भव्यजन तजो सदीव।।
स्वर्ग बारहवें हाथी पहुँचा, सर्प नरक दुःख पाता है।। 10।।
सम्यग्दर्शन का बल देखो, नहीं वहाँ आसक्त हुआ।
जिनपूजा तत्त्वों की चर्चा करते काल व्यतीत हुआ।।
संयम की नित करे भावना नहीं योग्यता सुरगति में।
अग्निवेग विद्याधर हुआ, हुई विरक्ति यौवन में।।
धारी सहज दिगम्बर दीक्षा परमानन्द विधाता है।। 11।।

कमठ जीव ने अजगर होकर ध्यानमग्न मुनि को मारा।
स्वर्ग सोलवें गये मुनीश्वर पाई कमठ नरक कारा।।
तहँ तें चय कर विदेहक्षेत्र में वज्रवीर्य गृह जन्म लिया।
वज्रनाभि चक्री पद पाकर षट् खण्डों का राज्य किया।।
एक दिवस क्षेमंकर मुनि की दिव्य देशना पाता है।। 12।।
नहीं परमाणु मात्र भी मेरा, भोग रोग सम दुःखकारी।
निजानंद अमृतरस भोजी साधु दशा मंगलकारी।।
ब्रह्मचर्यमय जीवन ही है पाप शून्य, निर्द्वन्द्व सहज।
करें कष्ट की व्यर्थ कल्पना मोही, ज्ञानी धरें सहज।।
तृप्त स्वयं में चक्री चिन्ते मेरा पद तो ज्ञाता है।। 13।।
राग तन्तु टूटा तत्क्षण ही निर्ग्रन्थ पद अपनाया था।
परम जितेन्द्रिय हुए महामुनि आतम ध्यान लगाया था।।
देह पार्श्ववर्ती जो देखे बाहर की कुछ सुधबुध नाहिं।
कमठ जीव जो भील हुआ था मारा तीर लगा तन माँहि।।
हुआ समाधिमरण ग्रेवैयिक में अहमिन्द्र पदवी पाता है।। 14।।
शुभ भावों का दण्ड समझकर आत्म भावना दृढ़ करके।
नगर अयोध्या में जन्मा था सुर आयु पूरी करके।।
अहो! अहो!! आनन्द कुँवर था महामांडलिक पद धारी।
श्वेत बाल लखते ही फिर भी मुनिपद को दीक्षा धारी।।
हुई भावना सोलहकारण, जगत जीव निज पद पावें।
निज स्वभाव आराधन करके, अविनाशी शिव सुख पावें।।
बँधी प्रकृति तहँ तीर्थंकर की जग को धर्म प्रदाता है।। 15।।

ध्यानमग्न आनन्द मुनीश्वर को इक दिन वन में पाया।
कमठ जीव जो सिंह हुआ था क्रूर भाव धर तन खाया।।
देखो भावों की स्वतंत्रता, परम धर्म के जो कारण।
उन्हीं साधु को देख सिंह ने बैर विचारा दुख:कारण।।
मुनिवर स्वर्ग सोलवें पहुँचे सिंह नरक में जाता है।।16।।
छह महिना पहले काशी में रत्न सुरों ने वर्षाये।
कलि वैशाख द्वितीया के दिन वामा माता उर आये।।
देवों ने अति उत्सव कीना हर्षित सारा जगत हुआ।
पौष कृष्ण एकादशि को फिर पार्श्व प्रभु का जन्म हुआ।।
उदासीन गम्भीर ज्ञानमय बचपन भी सुखदाता है।।17।।
इक दिन वन में इक तपसी को लक्कड़ सुलगाते देखा।
नाग नागिनी का जोड़ा था उस लक्कड़ अंदर बैठा।।
करुणापूरित हृदय हुआ तपसी को सहज बताया था।
किन्तु कमठ का जीव तपस्वी सुनकर अति गुर्राया था।।
लक्कड़ फाड़ा क्रोध भाव से, नाग नागिनी तड़फ रहे।
सम्बोधन पाकर प्रभुवर का शान्तभाव से देव हुए।।
लौटे घर को किन्तु प्रभु का मन उदास हो जाता है।।18।।
इक दिन राजसभा में बैठे आया दूत अयोध्या का।
नाम अयोध्या का सुनते ही हुआ ध्यान आदीश्वर का।।
काललब्धि दीक्षा की आई चित में गाढ़ विराग हुआ।
लौकान्तिक देवों का अनुमोदन अति ही सुखकार हुआ।।
तत्क्षण इन्द्र स्वर्ग से आकर तप कल्याण मनाता है।। 19।।

ध्यान मग्न थे पार्श्व मुनीश्वर संवरारि उपसर्ग किया।
सात दिवस तक क्रोध भाव से व्यर्थ स्वयं को खिन्न किया।।
हारा बैर अरे दश भव का, क्षमा भाव ने जय पाई।
आ धरणेन्द्र उपसर्ग निवारा केवल लक्ष्मी प्रगटाई।।
समवशरण में अन्तरीक्ष प्रभु अर्हत् रूप सुहाता है।।20।।
ध्वनित हो रही दिव्यध्वनि थी अद्भुत तत्त्वमयी सुखरूप।
सुनकर भव्य जीव आनन्द में समझ रहे थे शुद्ध चिद्रूप।।
कोई धन्य भाग्य तो तत्क्षण मुनिपद की दीक्षा लेते।
कोई सम्यग्दर्शन पाते, कोई थे श्रावक व्रत होते।।
कमठ जीव भी शान्त चित्त हो सम्यग्दर्शन पाता है।। 21।।
देखो भावों की विचित्रता भ्रात! दीनता छोड़ दो।
आनन्दमय निवृत्ति पथ में स्वयं-स्वयं को जोड़ लो।।
नहीं कोई है संगी साथी, भोगों का सुख कल्पना।
शांत चित्त हो साधो निजपद लाओ अन्य विकल्प ना।।
अहो! अहो!! निर्द्वन्द्व आत्म आराधन ही शिव दाता है।। 22।।
बालयती श्री पार्श्व प्रभो सम्मेदशिखर से मोक्ष हुआ।
क्षमा भाव अरु ब्रह्मचर्य का इक आदर्श प्रसिद्ध हुआ।।
भाव विभोर हुआ चरणों में नमन करूँ त्रिभुवन नामी।
ब्रह्मचर्य निर्दोष पूर्ण हो यही भावना है स्वामी।।
परमब्रह्म शाश्वत् परमातम, बाहर कुछ न सुहाता है।।23।।
सर्व समर्पण हो स्वभाव में निर्विकार निर्ग्रन्थ रहूँ।
निर्वांछक निर्भय जीवन हो स्वयं स्वयं में तृप्त रहूँ।।

निजानन्द रस का आस्वादी, पर दुर्वेदन में असमर्थ।
निश्चय हुआ सधेगा निज में निज से ही मंगल मोक्षार्थ।।
बस हो बहुत कथन से भाई अपना भाव सु ज्ञाता है।। 24।।

(178) श्री महावीर का गृह त्याग

निर्ग्रन्थ दीक्षा लेने को महावीर चल दिए।
भोगों की सब सामग्री तजकर वीर चल दिए।। टेक।।
सिद्धार्थ जी कहते थे, बेटा राज्य संभारो।
सुन्दर कन्याएँ शादी को आयी हैं स्वीकारो।।
आया है अवसर भाग्य से निराश ना करो।
मत सबका आग्रह ठुकराकर मुनिपद अभी धरो।।
यौवन भरी ये देह कोमल दीक्षा है कठिन।
लेना तो संयम सहज है निर्वाह है कठिन।।
सुन करके ये विकथाएँ प्रभु गम्भीर हो गये।। 1।।
इस मोह की दुनियाँ में होते हैं अनर्थ ही।
मोहीजनों की भाषा भी निस्सार व्यर्थ ही।।
सब रोते राग को हित की चिन्ता किसी को ना।
मुक्ति के मार्ग में करो परवाह इनकी ना।।
रहकर निशंक राग तज शिव मार्ग में बढ़ो।
निज बल से ही हो अप्रमत्त मुक्ति गिरि चढ़ो।।
यों सोचते प्रभुवर सहज विरक्तता लिए।। 2।।
बोले ये राज्य क्या करूँ ये तो विनाशी है।
मेरा अविनाशी राज्य तो मेरे अंदर ही है।।

अद्भुत अनन्त गुणों का निज में ही खजाना।
कामादिक शत्रु जीतकर शिवपद मुझे पाना।।
यहाँ सर्व योग मिल गये, काललब्धि भी आयी।
आनन्दमग्न मुनिदीक्षा की अब शुभ घड़ी आयी।।
ये स्वर्णिम अवसर है, नहीं भववृद्धि के लिए।। 3।।
झूठे प्रलोभन भोगों के नहिं मुझको दिखाओ।
वैराग्यमय अमृत पिऊँ मत जहर पिलाओ।।
विषयों के दावानल से निकला कैसे-कैसे मैं।
जिनवर का मार्ग पाकर फिर फँस जाऊँ कैसे मैं।।
कठिनाई से भव सागर का तट मैंने पाया।
क्यों धक्का देते तात मुझको क्या ये फरमाया।।
जिनमार्ग तो है भवसागर से तिरने के लिए।। 4।।
ये भोग दीमक सम ही जीवन खोखला करते।
भोगी मकड़ी सम जाल में अपने ही फँस मरते।।
दलदल में फँसने वाले वृद्ध बैल की तरह।
नित तड़फ-तड़फ दुःख सहते भोगी कैद की तरह।।
भोगी हो देवादिक भी मरते जौंक की तरह।
पीड़ित करते हैं भोग बाण-नोंक की तरह।।
दुर्बुद्धि ही नित क्लेश सहता भोगों के लिए।। 5।।
संयोग हैं अनित्य बाहर कोई ना शरण।
पर प्रीति से संसार में हो दुःखमय मरण।।
साथी नहीं कोई अकेला ही सुख-दुःख सहे।

अन्यत्व देह से भी देह नित अशुचि रहे।।
दुःख कारण आश्रव बंध, सुखकर संवर निर्जरा।
बिन ज्ञान के तिहुँ लोक में ही डोलता फिरा।।
दुर्लभ है बोधि, धर्म ही सुख शान्ति के लिए।। 6।।
संयम का पंथ ही अहो! आनन्दरूप है।
निश्चय संयम ही निश्चय से मुक्ति स्वरूप है।।
संयम के मार्ग में यदि उपसर्ग भी होवे।
समता रहे ना क्लेश हो अरु निर्जरा होवे।।
भोगों की राह में तो पुण्योदय में भी दुःख हो।
संयम की साधना में पापोदय में भी सुख हो।।
निर्द्वन्द्व-निरापद संयम ही है मुक्ति के लिए।। 7।।
यों चिन्तते विरक्ति ना अंतर में समाई।
लौकान्तिकों से भी तभी अनुमोदना पाई।।
निज आत्म महिमा में मगन अति शान्त चित्त था।
महावीर का वह रूप सचमुच दर्शनीय था।।
खुशियाँ मनाते जय-जयकार करते सुर आये।
अति सुन्दर पालकी में प्रभु को इन्द्र पधराये।।
सब मिलकर पालकी लेकर वनखण्ड चल दिए।। 8।।
वस्त्राभूषण तज पंचमुष्ठि केश उखारे।
मानो प्रभु ने कर्म ही समूल विडारे।।
सब धनि-धनि कहते ही रहे प्रभु धन्य हो गये।
टूटी त्रय-चौकड़ी प्रभु निर्ग्रन्थ हो गये।।

बारह बरस मुनिवर रहे फिर केवली हुए।
प्रगटाया धर्मतीर्थ अन्तिम तीर्थंकर हुए।।
अब भी प्रवर्ते तीर्थ प्रभु तो मुक्त हो गये।।9।।
सौभाग्य से वह तीर्थ प्राप्त आज भी हमें।
कर्त्तव्य है पुरुषार्थ कर शिवमार्ग में लगें।।
तत्त्वों का निर्णय करके निज-पर भेदज्ञान कर।
जीवन सफल करें सु आत्मानुभूति कर।।
त्यागें विषय-कषाय तत्त्वभावना करें।
आनन्दमय संयम अहो आनन्द से धरें।।
निर्द्वन्द्व हो महावीर-पथ पर हम भी चल दिए।।10।।

(179) श्री भरतेश्वर गाथा

धन्य हैं वे भरतराज, पायो निज को सुराज।
जिनको यश वचन सों, कहत न बनत है।। 1।।
दिग्विजय हेतु जो प्रयाण करे सैन्य साथ।
रत्नाकर किनारे, चैतन्य रत्नाकर धरत हैं।। 2।।
युद्ध की नहीं है चिन्ता, कर्मनि से युद्ध करे।
ध्यान बल भूप आय, चरणन परत है।। 3।।
बत्तीस हजार नृप चरणों में शीश धरें।
पर जिन शीश, जिन-चरण में झुकत है।। 4।।
छियानवें हजार नारीं, जिनको हृदय में धरें।
पर जिन हृदय में नारि नाहिं, जिन बसत हैं।। 5।।
चक्रवर्ती मान छोड़, नित्य जिनपूजा करें।
युक्ति भक्ति से सु द्वारा-पेक्षण करत हैं।। 6।।
घर में विरागी, स्व-स्वरूप में अनुरागी।
मुनि हो अन्तर मुहूर्त केवल लहत हैं।। 7।।

ऐसे वीतराग भरतेश्वर के चरणों में।
श्रद्धा भक्ति पूर्वक हम पुनि-पुनि नमत हैं।। 8।।

(180) श्री हनुमान चरित्र

(दोहा)

मुनिसुव्रत के तीर्थ में, भये बलभद्र सु राम।
नारायण लक्ष्मण तथा, महाबली हनुमान।। 1।।
चरम शरीरी शैल श्री, पायो शिव अभिराम।
वात्सल्य की मूर्ति प्रभु, श्रद्धा सहित प्रणाम।। 2।।

(चौपाई)

जय हनुमान दयालु स्वामी, चरम शरीरी सम्यग्ज्ञानी।
कामदेव सुन्दर सरवंगा, वानर वंश जगत में चंगा।। 3।।
सुत पवनंजय जगत विख्याता, सती अंजना तुम्हरी माता।
सिंह गुफा में जन्म तुम्हारा, होते हुआ शुभ्र उजियारा।। 4।।
तत्क्षण माँ के मातुल आए, रुका विमान अधिक चकराये।
उतरे तब तुम दर्शन पाया, महा हर्ष उर में उपजाया।। 5।।
चले साथ लेकर धरि मोदा, उछलि गिरि तज माँ को गोदा।
सभी लोग रोये-घबराये, तुम्हें देख विस्मित हो आए।। 6।।
जिस सिल पर तुम गिरे थे स्वामी, चूर हुई तुम्हरे बल नामी।
श्री शैल तब नाम धराया, हनुरुद्वीप में पोषण पाया।। 7।।
इसीलिए हनुमान सु नामा, स्वामी मोहि देहु सुखधामा।
पाकर रावण का सु निमंत्रण, वरुण राज को जीता तत्क्षण।। 8।।
रावण भानज वरी अनंगा, पायो राज मान सुख संगा।
सीता जब रावण हर लाया, जिससे राम बहुत दुःख पाया।। 9।।
तब तुम धैर्य राम को दीना, खोज हेतु शुभ गमन सु कीना।

देख महेन्द्र नगर सुखकारी, मातृ भक्ति हिम उमड़ी भारी।। 10।।
नाना का मद दूर कराया, मंगल आशीष उनका पाया।
दधि मुख के वन में जब आए, अग्नि मध्य मुनि जलते पाये।। 11।।
तत्क्षण भक्ति भाव उमड़ाया, मूसलधार वारि बरसाया।
किया दूर उपसर्ग साधु का, विद्या साधक कन्याओं का।। 12।।
असंख्यात तिर्यञ्च बचाए, तब प्रभु तुम आगे बढ़ पाये।
वात्सल्य साक्षात् दिखाया, दया धर्म जग को सिखलाया।। 13।।
लंका के समीप आते ही, माया कोट लखा वहाँ सही।
तत्क्षण चूर-चूर तुम कीना, रक्षक को परलोक सु दीना।। 14।।
वश में कीनी लंका सुन्दरि, अरु पहुँचे लंका के अंदर।
प्रथम विभीषण मंदिर गये, समाचार सीता के लिए।। 15।।
निराहार सीता को सुनकर, उसके दुःख से द्रवित जु होकर।
प्रमद नाम उद्यान में पहुँचे, राम मुद्रिका डारी नीचे।। 16।।
सीता ने जब भ्रात पुकारा, तब निशंक निज रूप दिखाया।
राम लखन वृतांत सुनाया, तत्क्षण शुभ आहार कराया।। 17।।
सीता सिर चूड़ामणि लीना, विदा माँगि कै गमन सु कीना।
सुनकर रावण क्रोध दिखाया, इन्द्रजीत जब पकड़ सु लाया।। 18।।
रावण से तब डरे न स्वामी, साँकल तोड़ि भये नभ गामी।
रावण महल नष्ट तुम कीना, पग से स्वर्ण कोट क्षय कीना।। 19।।
समर मध्य निज बल दिखलाया, जीवन राम सहित जु बिताया।
विस्तृत राज्य मध्य भी स्वामी, रहे धर्म पथ के अनुगामी।। 20।।
प्रजा पुत्र सम देखी सारी, न्याय नीति थी तुमको प्यारी।
इन्द्र सरीखे भोग सु कीने, पर उनमें नहिं किंचित् भीने।। 21।।

एक रात्रि लख टूटा तारा, भव-तन-भोग स्वरूप विचारा।
प्रातः राज्य पुत्र को दीना, वन जा नमन गुरु को कीना।। 22।।
दीक्षा धारि घोर तप कीना, तुङ्गी गिरि से शिव पद लीना।

(दोहा)

शुभ चरित्र हनुमान का, करे कण्ठ सुखकार।
उन सम तज अन्याय पथ, गहे धर्म आधार।।
शिव-मारग पर पग धरें, धारें योग महान।
तत्क्षण ही दुःख मुक्त हो, पावे सुख अम्लान।।

(181) देशभूषण-कुलभूषण गाथा

आओ अहो आराधना के मार्ग में आओ।
आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ।। टेक।।
श्री देशभूषण-कुलभूषण भगवान की गाथा।
हो सबको ज्ञान विरागमय, आनन्द प्रदाता।।
दोनों भाई बचपन में ही गुरुकुल चले गये।
सुध-बुध नहीं घर की कुछ अध्ययन में ही लग गये।।
गृह त्यागी लक्षण विद्यार्थी का चित्त में लाओ।। आनन्द... ।।1।।
साहित्य धर्म शास्त्र न्याय आदि पढ़ लिये।
थोड़े समय में ही सहज विद्वान हो गये।।
पुरुषार्थ विशुद्धि विनय से ज्ञान विकसाता।
गुरु तो निमित्त मात्र ज्ञान अन्तर से आता।।
अन्तर्मुखी पुरुषार्थ से सद्ज्ञान को पाओ।। आनन्द... ।। 2।।
कितने भव यों ही खो दिए निज ज्ञान के बिना।
सुख लेश भी पाया नहीं, निज भान के बिना।।

पुण्योदय से वैभव पाये, अरु भोग भी कितने।
उलझाया तड़प-तड़प दुख पाया, मोहवश इसने।।
जिनवाणी का अभ्यास कर, अब होश में आओ।
आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ।। 3।।
पढ़-लिख कर घर आने की थी तैयारी जिस समय।
रे इन्द्रपुरी सम नगरी की शोभा थी उस समय।।
उल्लास का वातावरण चारों तरफ छाया।
खो बैठे अपनी सुध-बुध ऐसा रंग वर्षाया।।
हो मूढ़ राग-रंग में, ना निज को भुलाओ।। आनन्द...।। 4।।
निज कन्यायें लेकर, अनेक राजा आये थे।
देखा नहीं सुनकर ही वे, मन में हरषाये थे।।
सपने संजोये थीं कन्यायें, उनको वरने की।
उनमें भी होड़ लगी थी, उनके चित्त हरने की।।
पर होनहार सो ही होवे विकल्प मत लाओ।।आनन्द...।।5।।
आते हुए उन राजपुत्रों को दिखी कमला।
उल्लास से जिसकी दिखी तन कान्ति अति विमला।।
कर्मोदय वश दोनों ही उस पर लुब्ध थे हुए।
मन में विवाह की उससे ही लालसा लिए।।
लखकर विचित्रता अरे सचेत हो जाओ।। आनन्द...।। 6।।
इक कन्या को दो चाहते, संघर्ष हो गया।
दोनों के भ्रातृ-प्रेम का भी ह्रास हो गया।।
धिक्कार इन्द्रिय भोगों को जो सुख के हैं घातक।
रे भासते हैं मूढ़ को ही सुख प्रदायक।।
कर तत्त्व का विचार श्वानवृत्ति नशाओ।। आनन्द...।। 7।।

इच्छाओं की तो पूर्ति सम्भव ही नहीं होती।
मिथ्या पर–लक्षी वृत्ति तो निजज्ञान ही खोती।।
सुख का कारण इच्छाओं का अभाव ही जानो।
उसका उपाय आत्मसुख की भावना मानो।।
भवि भेदज्ञान करके आत्मभावना भाओ।
आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ।। 8।।
आते देखा भ्राताओं को वह कन्या हरषायी।
भाई–भाई कहती हुई, नजदीक में आयी।।
तब समझा यह तो बहिन है जिस पर ललचाये थे।
ग्लानि मन में ऐसी हुई, कुछ कह नहिं पाये थे।।
नाशा विकार ज्ञान से, प्रत्यक्ष लखाओ।। आनन्द...।। 9।।
ज्यों ही जाना हम भाई हैं, यह तो पावन भगिनी।
फिर कैसे जागृत हो सकती है, वासना अग्नि।।
त्यों ही मैं ज्ञायक हूँ ऐसी अनुभूति जब होती।
तब ही रागादिक परिणति तो सहज ही खोती।।
अतएव स्वानुभूति का पुरुषार्थ जगाओ।। आनन्द..।।10।।
अज्ञान से उत्पन्न दुःख तो ज्ञान से नाशे।
अस्थिरता जन्य विकार भी थिरता से विनाशे।।
भोगों के भोगने से इच्छा शान्त नहीं होती।
अग्नि में ईंधन डालने सम वृद्धि ही होगी।।
अतएव सम्यग्ज्ञान कर, संयम को अपनाओ। आनन्द..।। 11।।
दोनों कुमार सोचते थे, प्रायश्चित सुखकर।
इसका यही होवेगा, हम तो होंय दिगम्बर।।

दुनियाँ की सारी स्त्रियाँ, हम बहिन सम जानी।
आराधें निज शुद्धात्मा दुर्वासना हानी।।
निष्काम आनंदमय परम जिनमार्ग में आओ।
आनन्द से उल्लास से शिवमार्ग में आओ।। 12।।
ऐसा विचार करते ही सब खेद मिट गया।
अक्षय मुक्ति के मार्ग का फिर, द्वार खुल गया।।
अज्ञानी पश्चाताप की अग्नि में जलते हैं।
ज्ञानी तो दोष लगने पर प्रायश्चित्त करते हैं।।
शुद्धात्म आश्रित भावमय प्रायश्चित्त प्रगटाओ।।आनन्द...।। 13।।
हम कर्म के प्रेरे बहिन, दुर्भाव कर बैठे।
अज्ञानवश निज शील का उपहास कर बैठे।।
करना क्षमा हम ज्ञानमय दीक्षा को धरेंगे।
अज्ञानमय दुष्कर्मों को निर्मूल करेंगे।।
समता का भाव धार कर कुछ खेद नहिं लाओ।। आनन्द...।। 14।।
रोको नहीं तुम भी बहिन, आओ इस मार्ग में।
दुर्मोह वश अब मत बढ़ो संसार मार्ग में।।
निस्सार है संसार बस शुद्धात्मा ही सार।
अक्षय प्रभुता का एक ही है आत्मा आधार।।
निर्द्वन्द्व निर्विकल्प हो निज आत्मा ध्याओ।। आनन्द...।। 15।।
ले के क्षमा करके क्षमा, गुरु ढिंग चले गये।
आया था राग घर का, ज्ञानी वन चले गये।।
संग में चले निर्मोही, रागी देखते रहे।
धारा था जैन तप, उपसर्ग घोर थे सहे।।
पाया अचल, ध्रुव सिद्धपद भक्ति से सिर नाओ।। आनन्द...।। 16।।

(182) अकलंक-निकलंक गाथा

अकलंक अरु निकलंक दो थे सहोदर भाई।
प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई।। टेक।।
धनि-धनि हैं भोगों को न अंगीकार ही किया।
बचपन में ही मुनिराज से ब्रह्मचर्य व्रत लिया।।
व्रत लेकर आनन्दमय जीवन की नींव धराई।। प्राणों ...।।1।।
तत्त्वज्ञान के अभ्यास में ही चित्त लगाया।
दुर्वासनाओं की जिन्हें, नहीं छू सकी छाया।।
दुर्मोहतम हो कैसे? ज्ञान ज्योति जगाई।। प्राणों ...।। 2।।
अज्ञान में ही कष्टमय, संयम अरे भासे।
संयम हो परमानन्दमय, जहाँ ज्ञान प्रकाशे।।
इससे ही भेदज्ञान कला मूल बताई ।। प्राणों ...।। 3।।
बौद्धों का बोलबाला था, जिनधर्म संकट में।
अत्याचारों से त्रस्त थे जिनधर्मी क्षण-क्षण में।।
जिनधर्म की प्रभावना की भावना आई।। प्राणों ...।।4।।
माता-पिता ने जब रखा, प्रस्ताव शादी का।
बोले बर्बादी का है मूल, स्वांग शादी का।।
दिलवा करके ब्रह्मचर्य, तात्! क्या ये सुनाई।। प्राणों...।।5।।
बोले पिता अष्टाह्निका, में मात्र व्रत दिया।
हे तात! तुमने कब कहा, हम पूर्णव्रत लिया।।
मुक्ति के मार्ग में नहीं होती है हँसाई।। प्राणों ...।। 6।।

आजीवन पालेंगे, हम तो ब्रह्मचर्य सुखकारी।
सौभाग्य से पाया है, रत्न ये मंगलकारी।।
भव रोग की इक मात्र ये ही साँची दवाई।
प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई।। 7।।
मोदन करो सब ही अहो, हम ब्रह्मचर्य धारें।
जीवन तो धर्म के लिये, हम मौत स्वीकारें।।
आराधना ही सुख स्वरूप मन में समाई।। प्राणों ...।। 8।।
आशीष ले माता-पिता से, बौद्ध मठ गये।
प्रच्छन्न बौद्ध रूप में दर्शन सभी पढ़े।
जैनों को शिक्षा पाने की थी सख्त मनाई।। प्राणों ...।। 9।।
स्याद्वाद पढ़ाते श्लोक एक अशुद्ध हुआ।
आचार्य थे बाहर गये, अकलंक शुद्ध किया।।
श्लोक शुद्ध करना हुआ, गजब दुखदाई।।प्राणों...।।10।।
आचार्य को शंका हुई, कोई जैन होने की।
प्रतिमा दिगम्बर रखकर, आज्ञा दी थी लाँघने की।।
तब धागा ग्रीवा में लपेट, लाँघ गये भाई।। प्राणों...।। 11।।
फिर अर्द्ध रात्रि के समय, घनघोर स्वर हुआ।
अरहंत-सिद्ध कहते हुये, सैनिक पकड़ लिया।।
होकर निडर बोले थे हम, जिनधर्म अनुयायी।। प्राणों...।। 12।।
लालच दिये और भय दिखाये, पर नहीं डिगे।
श्रद्धान से जिनधर्म के किंचित् नहीं चिगे।।
झुँझलाकर निर्दय होकर, सजा मौत सुनाई।।प्राणों...।। 13।।

पर रात्रि को ही भागे, कारागार से दोई।
टाले कभी टलता नहीं, भवितव्य जो होई।।
पीछे दौड़ाये सैनिक अति ही क्रूरता छाई।
प्राणों पर खेल की, धर्म की रक्षा सुखदाई।। 14।।
निकलंक बोले देखो भाई, आ रही सेना।
हो धर्म की रक्षा, न कोई और कामना।।
छिप जाओ तुम तालाब में, मैं मरता हूँ भाई।।प्राणों... ।। 15।।
अकलंक कहा भाई तुम अपने को बचाओ।
निकलंक बोले भ्रात उर में मोह मत लाओ।।
तुम अति समर्थ धर्म की रक्षा में हे भाई।।प्राणों... ।। 16।।
जल्दी करो अब ना समय, मैं भावना भाऊँ।
हो धर्म की प्रभावना, मैं शीश नवाऊँ।।
जबरन छिपा दिया, अहो धनि युक्ति यह आई।।प्राणों... ।। 17।।
धोबी को लेकर साथ फिर निकलंक थे दौड़े।
आये निकट थे सैनिकों के शीघ्र ही घोड़े।।
आदर्श छोड़ गये अपना शीश कटाई।। प्राणों ...।। 18।।
होकर विरक्त ली अहो, अकलंक मुनि दीक्षा।
शास्त्रार्थ में पाकर विजय, की धर्म की रक्षा।।
जिनधर्म की पावन पताका, फिर से फहराई।।प्राणों... ।। 19।।
राजा हिमशीतल की सभा, में था हुआ विवाद।
छह माह तक बाँटा था, श्री जिनधर्म का प्रसाद।।
परदा हटा घट फोड़ तारा देवी भगाई।।प्राणों..।।20।।

निकलंक का उत्सर्ग तो, सोते से जगाये।
अकलंक का दर्शन अहो, सद्बोध कराये।।
जिनशासन के नभ मण्डल में रवि–शशि सम दो भाई।। प्राणों.. ।।21।।
अकलंक अरु निकलंक का आदर्श अपनायें।
युक्ति सद्ज्ञान, आचरण से धर्म दिपायें।।
मंगलमय ब्रह्मचर्य होवे हमको सहाई।। प्राणों ...।। 22।।

(183) श्री यशोधर गाथा

धन्य यशोधर मुनि–सी समता, मम परिणति में प्रगटावे।
ज्ञाता–दृष्टा रह जाऊँ बस, राग–द्वेष विनश जावे।। टेक।।
एक दिवस जंगल में मुनिवर, आतम ध्यान लगाया है।
जैन धर्म प्रति द्वेष धरे, श्रेणिक मृगया को आया है।।
किन्तु यत्न सब व्यर्थ हुये, कोई शिकार नहिं पाता है।
तभी शिला पर श्री मुनिवर का, पावन रूप दिखाता है।।
जिनकी वीतराग मुद्रा लख, भव–भव के दुःख नश जावें।। ज्ञाता... ।।1।।
जान चेलना के गुरु हैं, तो बदला लेने की ठानी।
क्रूर शिकारी कुत्ते छोड़े, किंचित् दया न उर आनी।।
उन ऋषिवर का साम्यभाव लख, वे कुत्ते तो शान्त हुये।
किन्तु समझ कीलित कुत्तों को, भाव नृपति के क्रुद्ध हुये।।
जैसी होनहार हो जिसकी, वैसी परिणति हो जावे।। ज्ञाता... ।। 2।।
देखो सबका स्वयं परिणमन, निमित्त नहीं कुछ करता है।
नहीं प्रेरणा, मदद, प्रभावित कोई किसी को करता है।।
वस्तु स्वभाव न जाने मूरख, व्यर्थ खेद अभिमान करे।
ठाने उद्यम झूठे जग में, सदाकाल आकुलित रहे।।
छोड़ निमित्ताधीन दृष्टि, निज भाव लखे ही सुख पावे।। ज्ञाता.... ।।3।।

तत्क्षण सर्प भयंकर देखा, मार गले में डाल दिया।
क्रूर, रौद्र परिणामों से, तब नरक सातवाँ बंध किया।।
अट्टहास कर घर आया, पर तीन दिनों तक व्यस्त रहा।
समाचार देने चौथे दिन, सती चेलना पास गया।।
मोही पाप बंध करके भी देखो कैसा हरषावे।
ज्ञाता-दृष्टा रह जाऊँ बस, राग-द्वेष विनश जावे।। 4।।
सुनकर दुःखद भयानक घटना, भक्ति उर में उमड़ानी।
त्याग अन्न जल उसी समय, उपसर्ग निवारण की ठानी।।
श्रेणिक बोला अरे प्रिये! क्यों मुनि ने कष्ट सहा होगा।
मेरे आने के तत्क्षण ही, सर्प दूर फैंका होगा।।
अज्ञानी क्या ज्ञानीजन का, अन्तर रूप समझ पावे।। ज्ञाता... ।। 5।।
बोली तुरन्त चेलना राजन्! यदि वे सच्चे गुरु होंगे।
उसी अवस्था में अविचल, निज ध्यान लीन बैठे होंगे।।
तुमने द्वेष भाव से भूपति, घोर पाप का बंध किया।
मुनि पर कर उपसर्ग, स्वयं को स्वयं दुःख में डाल दिया।।
व्यर्थ कषायें करके प्राणी, खुद ही भव-भव दुख पावें।। ज्ञाता.. ।।6।।
आगे-आगे चले चेलना, उर दुःख-सुख का मिश्रण था।
कौतूहलमय विस्मय पूरित, श्रेणिक का अन्तस्तल था।।
परम शान्त निजध्यानलीन, मुनिवर को ज्यों ही देखा था।
किया दूर उपसर्ग शीघ्र ही, श्रद्धा से नत श्रेणिक था।।
ज्ञानीजन तो पहले सोचें, मूरख पीछे पछतावे।। ज्ञाता.... ।। 7।।

धन्य मुनीश्वर साम्यभाव धर, धर्मवृद्धि दोनों को दी।
श्रेणिक और चेलना में नहिं, इष्ट–अनिष्ट कल्पना की।।
पश्चाताप नृपति को भारी, कैसे मुँह दिखलाऊँ मैं।
अश्रुपूर्ण हो गये नेत्र अरु, आत्मघात आया मन में।।
निज दुष्कृत्यों पर अब नृप को, बार–बार ग्लानि आवे।
ज्ञाता दृष्टा रह जाऊँ बस, राग–द्वेष विनश जावे।। 8।।
मन की बात ऋषीश्वर जानी, बोले नृप क्या सोच रहे।
पाप नहीं पापों से धुलते, आत्मघात क्यों सोच रहे।।
प्राग्भाव है भूतकाल में, ग्लानि चिंता दूर करो।
धर्म नहीं पहिचाना अब तक, तो अब ही पुरुषार्थ करो।।
जागो तभी सबेरा राजन्! गया वक्त फिर नहिं आवे।। ज्ञाता.... ।।9।।
पर्यायें तो प्रतिक्षण बदलें, मैं उन रूप नहीं होता।
आभूषण बहु भाँति बनें, स्वर्णत्व नहीं सोना खोता।।
मत पर्यायों को ही देखो, ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि धरो।
परभावों से भिन्न ज्ञानमय, ही मैं हूँ श्रद्धान करो।।
ये ही निश्चय सम्यक् दर्शन, मुक्तिपुरी में ले जावे।। ज्ञाता... ।। 10।।
सच्चे सुख का मार्ग प्रदर्शक, जिनशासन ही सुखकारी।
भावी तीर्थंकर तुम होंगे, सोच तजो सब दुःखकारी।।
आनंदित होकर श्रेणिक तब, जैनधर्म स्वीकार किया।
अन्तर्दृष्टि धारण करके, सम्यग्दर्शन प्रगट किया।।
आयु बंध भी हीन हो गया, प्रथम नरक में ही जावे।। ज्ञाता.. ।। 11।।

देखो निमित्त न सुख–दुःख देता, झूठी पर की आश तजो।
पर से भिन्न सहज सुख सागर में ही प्रतिक्षण केलि करो।।
दोष नहीं देना पर को, निज में सम्यक् पुरुषार्थ करो।
मोह हलाहल बहुत पिया है, साम्य सुधा अब पान करो।।
साम्यभाव ही उत्तम औषधि, भ्रमण रोग जासों जावे।। ज्ञाता... ।। 12 ।।

(184) श्री सुकुमाल चरित्र

चातुर्मास पूर्ण कर मुनिवर पाठ करे सुखकार रे।
वर्णन आया स्वर्गों का तब ही जागे सुकुमाल रे।। 1।।
जाति स्मरण हुआ सुखकारी उर छाया वैराग्य रे।
कैसे निकलूँ लगे सोचने मोह नींद से जाग रे।। 2।।
कपड़े बाँध–बाँध लटकाए खिड़की में से उतर पड़े।
आनन्दित हो उत्साहित हो श्री मुनिवर की ओर बढ़े।। 3।।
शीश नवाकर मुनि चरणों में जिज्ञासु हो बैठ गये।
करुणापूरित यशोभद्र मुनि उद्‌बोधन हित कहत भये।। 4।।
जाग्रत हो सुकुमाल शीघ्र ही जाग्रत हो सुकुमाल रे।
तीन दिवस की आयु शेष है जाग्रत हो सुकुमाल रे।। 5।।
जिस भवतरु पर तू है लटका नीचे है भव कूप रे।
देख चार गति रूपी अजगर मुँह फाड़े विकराल रे।। 6।।
काल रूप हस्ती झकझोरे तू भी अति भयभीत रे।
रात दिवस दो चूहे काटते तू लटका जिस डाल रे।। 7।।
काल अनादि बहुत दुःख पाया वायुभूति के भव में भी।
मुनिनिंदा से फल से कोढ़ी हुआ बहुत बेहाल रे।। 8।।

गधी शूकरी कुत्ती होकर सुता हुई चाण्डाल की।
अग्निभूति मुनिवर का सुन संबोधन हुई खुशहाल रे।। 9।।
कर सन्यास निदान भाव से नागश्री द्विजसुता हुई।
अणुव्रत लेकर फिर दीक्षा ले छोड़ा जग जंजाल रे।। 10।।
घोर तपश्चर्या करके तू हुआ स्वर्ग में देव रे।
वैभव भोग मनोरम तज कर आया तू सुकुमाल रे।। 11।।
फिर भी यहाँ फँसा भोगों में चेत अरे! कर याद रे।
निकल कैद से अब भी अवसर निज परिणाम संभाल रे।। 12।।
तत्क्षण ही जिनदीक्षा ले सुकुमाल गये वन खण्ड में।
रुधिर छलकता और टपकता जाता कोमल अंग में।। 13।।
धन्य-धन्य सुकुमाल मुनीश्वर लीन हुए निज ध्यान में।
अनुभवते ज्ञेयों से न्यारा ज्ञान सहज निज ज्ञान में।। 14।।
रुधिर चाटते एक स्यालनी युग बच्चा युत आयी थी।
खाने लगी शरीर बैर वश महा क्रूरता छायी थी।। 15।।
सरसों का दाना चुभता था देखो जिनको राग में।
अहो! अहो!! वे निश्चल वर्तें सम्यग्ज्ञान विराग में।। 16।।
द्रव्यदृष्टि धर अंतरंग में देख रहे थे वे अशरीर।
तृप्त निजानन्द रस में मुनिवर हुए नहीं किंचित् दिलगीर।। 17।।
प्रमत्तदशा में भी शुभ चिन्तन भेदज्ञानमय था होता।
भाते थे द्वादश अनुप्रेक्षा सहज वर्तते थे ज्ञाता।। 18।।
आज्ञापाय विपाक और संस्थान विचय धर धर्मध्यान।
क्षण-क्षण अप्रमत्त होते थे निर्विकल्प धर आतमध्यान।। 19।।

आत्मध्यान की अद्‌भुत महिमा लेश नहीं आकुलता थी।
उपादेय शुद्धातम जिनको सहज प्रवर्ते समता थी।। 20।।
तीन दिवस यों पूर्ण हुए थे तन का तो अवसान हुआ।
राग प्रशस्त रहा कुछ बाकी सर्वार्थसिद्धि प्रयाण हुआ।। 21।।
देवों ने आश्चर्य प्रगटाये गूँजा जय जयनाद था।
नगर निवासी दौड़े आये मिश्रित हर्ष विषाद था।। 22।।
देख धीरता धनि-धनि कहते थे सब ही सुकुमाल को।
राजादिक भी दीक्षा लीनी तज परिग्रह जंजाल को।। 23।।
माता ने भी मोह तजा था दीक्षा ले कल्याण किया।
हुई अनेकों साथ आर्यिका अपना भव था सफल किया।। 24।।
भाव सहित वन्दना करके निर्ग्रन्थ भावना भाता हूँ।
अहो पूज्य सुकुमाल मुनीश्वर! प्रगटे निज पद, ज्ञाता हूँ।। 25।।
उपसर्गों में क्षोभ न आवे साम्य दशा वर्ते अविरल।
रहूँ सहज संतुष्ट स्वयं में, अन्य न कोई चाहूँ फल।। 26।।

(185) श्री सुकौशल गाथा

निज भाव की आराधना ही नित्य मंगलकार है।
निज भाव ही ध्रुव मंगलोत्तम शरण जग में सार है।। टेक।।
लख सूर्यग्रहण सु कीर्तिधर नृप सोचने मन में लगे।
ये ही दशा संसार की जहँ मोहवश सुख सा लगे।।
रे रंक विषयासक्त क्षण में काल के मुख में परे।
जो मोहवश हैं पाप बाँधे तिन उदय अति दुख भरे।।
साथी सगा कोई न हो, धन विभव काम न आवते।
निज आत्मा के भान बिन तड़फावते भरमावते।।
शुद्धात्मा की साधना बिन हो न भव से पार है।। निज.।।

है आत्मज्ञान ही ज्ञान सम्यक् फल सहज वैराग्य हो।
निजभाव में हो लीनता, सुख शान्ति का साम्राज्य हो।।
सर्वस्व मेरा है सु मुझमें, बाह्य में कुछ भी नहीं।
झूठा है पर का मोह चेतन क्लेश का कारण सही।।
अब तो उचित मुझको यही, निर्ग्रन्थ पद धारण करूँ।
निष्काम हो निर्द्वन्द्व हो, परमात्मपद साधन करूँ।।
ध्याऊँ स्व-ध्येय रूप जो परमेष्ठी पद आधार है।। निज.।।
मंत्री पुरोहित और सामन्तों से यों कहने लगे।
तुम सब सम्हारो राज्य हम दीक्षा धरें निज में पगें।।
कहने लगे सब लोग नृपवर यह अरज चित्त धारिये।
कुलरीति से दे राज्य सुत को आप दीक्षा धारिये।।
राजा बिना नाशे प्रजा अरु धर्म का अभाव हो।
रुक जाँय कुछ दिन आप जिससे सर्व का निर्वाह हो।।
सुत देखते दीक्षा धरूँ कीना नियम सुखकार है।। निज.।।
फिर कुछ दिनों में पुत्र का भी जन्म था घर में हुआ।
पर गुप्त रखी वह खबर था मोह रानी को बढ़ा।।
भवितव्य को पर कौन टाले काललब्धि आ गई।
इक विप्र ने दरबार जाकर सूचना नृप को दई।।
पन्द्रह दिवस के पुत्र को दे राज्य दीक्षा को चले।
उल्लास से थे शोभते शुक पींजड़े से ज्यों उड़े।।
हुए अकिंचन पाणिपात्री वंदना सुखकार है।। निज.।।
मान मत्सर से रहित करुणामयी मुनिराज वे।
आये नगर में एक दिन निर्दोष चर्या के लिए।।

रे मोह की देखो छटा लख क्रोध रानी को हुआ।
मम पुत्र भी जावे चला भयभीत अन्तस्तल हुआ।।
जो पूर्व में पति थे नृपति थे साधु थे वर्तमान में।
उनको तिरस्कृत कर निकाला था अरे! अज्ञान में।।
सत्य जानो मोह ही सब पापों का सरदार है।। निज.।।
यों देख अविनय साधु की रोने लगी थी धाय माँ।
वृत्तांत से अनभिज्ञ नृप आये सुकौशल थे वहाँ।।
पूछा सहज ही प्रेम से हे मात कारण क्या कहो?
सुनकर दुखद वृत्तांत दौड़े साधु दर्शन को अहो।।
पीछे भगे सेवक सभी वाहन चमर छत्रादि ले।
तब तक सुकौशल जाय पहुँचे अति निकट मुनिराज के।।
शीश चरणों में नवा माँगी क्षमा अविकार है।। निज.।।
रोने लगे कहने लगे संसार दीखा दुःखमय।
व्यवहार जग का मोहमय अज्ञानमय अरु पापमय।।
निर्मोह हो निर्ग्रन्थ होऊँ तात! आज्ञा दीजिए।
करके कृपा निज पुत्र को भी आप-सम ही कीजिए।।
मैं भी अतीन्द्रिय ज्ञान-अमृत पान करते पुष्ट हो।
निशल्य हो होऊँ मगन निज भाव में संतुष्ट हो।।
राज्य दे गर्भस्थ बालक को तजा संसार है।। निज.।।
मिथ्या विकल्पों से न कुछ होता अरे निश्चय करो।
कर्त्तृत्व का अभिमान दुःखमय ज्ञान से सब परिहरो।।

मुनिराज की अविनय करी रानी सु ममताधार है।
वह ही निमित्त हुई अरे वैराग्य की सुखकार है।।
भवितव्य को चाहें बदलना मूढ़जन संसार के।
भवितव्य को स्वीकार ज्ञानी मुक्तिमार्ग सम्हारते।।
धनि-धनि सुकौशल स्वामी का वैराग्य जगहितकार है।। निज.।।
मेघमंडल से रहित रवि सम मुनीश्वर शोभते।
वे वस्त्र भूषण से रहित भी भव्यजन मन मोहते।।
वैराग्यमय मुद्रा अहो नश्वर जगत दर्शावती।
शुद्धात्मा के ध्यानमय शिवमार्ग सहज दिखावती।।
जिनके दरश कर अधम भी होवें पवित्र महान हैं।
उपदेश सुन तिर्यंच भी पावें सहज शुभ ज्ञान हैं।।
अनुबन्ध-प्रतिबन्धों रहित जिनका आहार विहार है।। निज.।।
निज ध्यान में तिष्ठे हुए थे मुनि सुकौशल एक दिन।
क्रूर व्याघ्री ने बिदारा मूढ़ हो उनका सुतन।।
नष्ट करके कर्मबंधन अन्तःकृत केवलि हुए।
त्रिलोक-पूजित परम निर्मल आत्म गुण शोभित हुए।।
समभाव का लखकर सुफल भविजन विषमता त्यागिये।
परभाव शून्य सु सहज ज्ञायकभाव नित आराधिये।।
जहँ पुत्र को माता भखे, संसार को धिक्कार है।। निज.।।
श्री कीर्तिधर मुनिराज ने व्याघ्री को सम्बोधन किया।
जातिस्मरण उसको हुआ सन्यास उसने भी लिया।।

तज पशु शरीर सु स्वर्ग पाया देख यह अद्भुत गति।
दुष्पाप तज कर लो व्यवस्थित आत्मन् अपनी मति।।
मिथ्यात्व दु:ख का मूल है सुख मूल है निर्मोहता।
पर्यायदृष्टि छोड़कर जो द्रव्यदृष्टि सु धारता।।
वह अनुभवी ज्ञानी सु ध्यानी होय भव से पार है।। निज.।।
निर्णय करो तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यक् कीजिए।
स्वभाव अरु परभाव का विज्ञान सम्यक् कीजिए।।
परभावों से निवृत्त हो चारित्र सम्यक् धारिये।
आनन्द से आनन्दमय निज ब्रह्म रूप सम्हारिये।।
पर की गुलामी से रहित स्वाधीन जीवन हो अहो।
प्रभुतामयी आनन्दमयी आदर्श जीवन हो अहो।।
सहजता से सरलता से करो यह स्वीकार है।। निज.।।
हैं सर्व योग मिले तुम्हें कोई बहाना ना करो।
अब हान आलस ठान साहस आत्म-संवेदन करो।।
साथी सगा कोई नहीं दुख में न आवे काम रे।
है अकेला पूर्ण निज में सदा आतमराम रे।।
निरपेक्ष हो निश्चिंत हो आराधते शुद्धात्मा।
हों सर्व कर्मों से रहित निश्चय बनें परमात्मा।।
स्वभावदृष्टि पूर्वक उनको नमन अविकार है।। निज.।।

(186) श्री वज्रबाहु वैराग्य

परिणामों की विचित्रता अति देखो रे भाई।
दुखमय पर्याय दृष्टि अब तो छोड़ो रे भाई।।टेक।।

लेने आया था साला तब अति खिन्न था हुआ।
पत्नी बिन कैसे रह सकूँगा सोचता रहा।।
सब लोक लाज छोड़ करके साथ चल दिया।
विषयान्धता में कुछ विचार कर नहीं सका।।
कामान्ध को लज्जा नहीं भय भी नहिं रहता।
कानी कौड़ी के काज खत क्रोड़ों का लिख देता।।
इन क्षणिक सुखभासों का फल है भव-भवदुखदाई।। दुखमय.।।
विषयान्ध जीवों के विवेक हो जाता विलय।
विषयान्ध को रहती नहीं पूज्यों की भी विनय।।
विषयान्ध के परिणामों में नित वर्ते कुटिलता।
होती नहीं जीवन में सहजता या सरलता।।
श्री गुरुओं का उपदेश भी अन्तर में नहीं भिदता।
संयममय जीवन में उसे लगती है विरसता।।
भोगों का त्याग आनन्दमय पर लगता दुखदाई।। दुखमय.।।
लौकिक जीवों का संग ही भोगी को सुहाता।
ज्ञानी गुरुओं की संगति से तो दूर ही भगता।।
आपद के जो स्थान वे लगते हैं निरापद।
फिर कैसे जाने आराधे अपना चैतन्यपद।।
कारागृह सम गृहवास को वह सुखमयी जाने।
बेड़ी सम स्त्री को ही वह सुख संगिनी माने।।
शोभा माने परिग्रह से जो अति आकुलता दाई।। दुखमय.।।

वह मित्र उनको जानता जो राग को पोषे।
नित आर्त-रौद्र ध्यान से जीवन का रस सोखे।।
एकाकी जीवन में होती है दुःख की कल्पना।
आनन्दमय निवृत्ति की नहीं होती है भावना।।
सम्यक् पुरुषार्थ हीन वह परिश्रम बहुत करता।
आतम हित से रहकर विमुख पर का बोझा ढोता।।
मरता यूं ही दुर्ध्यान में गुरु सीख न सुहाई।। दुखमय.।।
जाता था वज्रबाहु कुँअर परिकर संग में।
सुधिबुधि नहीं कुछ मग्न था चित राग रंग में।।
आकर बसन्तगिरि पर था विश्राम कुछ किया।
छायी बसन्त ऋतु की शोभा देखन चल दिया।।
पर्वत पर गुणसागर मुनिराज देखे ध्यान में मगन।
विस्मित हो सोचने लगा वज्रबाहु मन ही मन।।
धनि-धनि विरागी दिव्यमुद्रा शांतता छाई।। दुखमय.।।
अहो! अहो!! योगीश्वर देखो कैसे सोहते।
सच्चिदानन्दमय आत्मा अन्तर में जोहते।।
निज अनुभव रस में तृप्त हैं बाहर में निस्पृही।
अविकारी परम जितेन्द्रिय मुनिवर पूज्य हैं यही।।
सम्पन्न निज वैभव से हैं निर्ग्रन्थ आनन्दमय।
निष्पाप हैं निर्द्वन्द्व हैं स्वाधीन हैं निर्भय।।
कल्याण में हैं सावधान अक्षय निधि पाई।। दुखमय.।।
धनि-धनि हैं श्री मुनि जो नहीं विषयों से ठगाये।
परिग्रह तृष्णा रूपी नागिन से जो नहीं डसाये।।

जो वासनाओं की छाया से भी अति दूर हैं।
निर्मोही हैं दुष्कर्म जीतने में शूर हैं।।
बंधन तो दूर बंधन की शंका जिन्हें नहीं।
दर्पण सम है निकलंक जीवन देखो तो सही।।
जिनकी शरण से भव्य, पावे शिवपथ सुखदाई।। दुखमय.।।
धिक्-धिक् है मेरी परिणति दुर्मोह से बँधी।
नहीं देखती नीति-अनीति काम में सनी।।
इन्द्रिय-विषय अति क्रूर सच्चे सुख के लुटेरे।
नित तड़फ-तड़फ दुःख सहते मोही विषयों के प्रेरे।।
होकर अचेत फँस गया था चक्कर में इनके।
होऊँ कृतार्थ मैं अभी धनि मुनिदशा धरिके।।
पावन हुआ मुनि दर्श से विरक्तता आई।। दुखमय.।।
साला था उदय कुमार कुछ क्षण देखता रहा।
बोला क्या देखो! दीक्षा ले लो, हँसता-सा हुआ।।
बोले थे वज्रबाहु मन का भाव कह दिया।
मुनि दर्शन से मुनिदीक्षा का ही भाव है हुआ।।
साला बोला तुम ले लो मैं भी संग लूँ दीक्षा।
जीजाजी यूँ ही खेल नहीं है पावन मुनि दीक्षा।।
बोले कुमार खेल ही है लब्धि जब आई।। दुखमय.।।
तुम अपनी जानो मैं तो देखो दीक्षा लेता हूँ।
अब तक के भोगों का निर्मल हो प्रायश्चित लेता हूँ।।
बोला साला क्या करते मैं तो हास्य में कहा।
बोले कुमार हास्य में उपकार ही हुआ।।

यदि हास्य में भी औषधी का पान जो करे।
नीरोग होता, हास्य उसमें विघ्न क्या करे?
करना क्षमा आनन्दित होओ शुभ घड़ी आई।। दुखमय.।।
मुनिराज के चरणों में जाकर शीश नवाया।
आज्ञा लेकर सब परिग्रह का था त्याग कराया।।
वस्त्राभूषण फैंके थे अति निस्सार जानकर।
लौंचे थे केश पापमय विकार जानकर।।
निर्ग्रन्थ हो शुद्धात्मा में मग्न थे हुए।
नाशीं थी तीन चौकड़ी अनुगृहीत थे हुए।।
दीक्षित हुए छब्बीस राजकुँअर सुहाई।। दुखमय.।।
यूँ देखा साहस मनोदया भी आनन्दित होकर।
हो गई आर्यिका साथ में जग-फन्द को तज कर।।
यह जानकर समाचार दादा सोचने लगे।
धनि-धनि जमाई पौत्र-पौत्री मुक्तिपथ बढ़े।।
राजा विजय भी मोह पर पाने विजय चले।
निज पुत्र के संग राजभार छोड़कर चले।।
धरकर दिगम्बर रूप अविनश्वर सिद्धि पाई।। दुखमय.।।
यों परिणामों की लख न्यारी गति चेतो रे भाई।
पर्यायमात्र निज पर को नहीं देखो रे भाई।।
परिणामाश्रित अभिमान अथवा दीनता तजो।
पर्यायों से निरपेक्ष ध्रुव चिद् आत्मा भजो।।
नहिं सोचो इतने दिन का मोह कैसे छूटेगा?
स्वलक्ष्य के पुरुषार्थ से इक क्षण में मिटेगा।।
लो पौराणिक पुरुषों से ये शिक्षा मंगलदायी।। दुखमय.।।

यदि जग में सार होता तो फिर वे कैसे तजते?
आराधना में दु:ख होता तो वे क्यों फिर भजते।।
छोड़ो विपरीत कल्पना सम्यक् विचार से।
ध्याओ-ध्याओ उत्तम नहीं कुछ समयसार से।।
ये पुण्य का वैभव नहीं है भोग्य त्याज्य रे।
निरपेक्ष हो पर से, निज में ही निज का राज्य रे।।
स्वाभाविक ज्ञानानन्दमय निजदृष्टि सुखदाई।। दुखमय.।।
उत्तम अवसर में कार्य उत्तम हित का ही करना।
दुर्लभ से दुर्लभ बोधि की आराधना करना।।
फँसना प्रलोभन में नहीं भय भी नहीं लाना।
होकर नि:शंक निज बल पर शिवमार्ग में आना।।
अज्ञान अन-अभ्यास से कुछ कष्ट सा दिखता।
सद्ज्ञान अरु अभ्यास से भासेगी सहजता।।
इस मार्ग से ही ज्ञानियों ने मुक्ति है पाई।। दुखमय.।।

(187) सेठ सुदर्शन गाथा

धनि धन्य हैं सेठ सुदर्शन, अद्भुत शील व्रतधारी।
जिनकी पावन दृढ़ता से, कुटिला नारी भी हारी।। टेक।।
इक रोज महल में बैठे, दासी ने आय बताया।
तव मित्र बहुत घबड़ाये, इस क्षण ही तुम्हें बुलाया।।
कुछ छल को समझ न पाये, थे सरल परिणति धारी।
वैसे ही दौड़े पहुँचे, पर वहाँ थी लीला न्यारी।। 1।।

ज्यों सेठ गये थे अन्दर, दरवाजा बंद सु-कीना।
आसक्ति भरी नारी ने, निर्लज्ज प्रदर्शन कीना।।
वह मित्र गया था बाहर, कपिला ने चाल विचारी।
हो सेठ रूप पर मोहित, उसने की थी तैयारी।। 2।।
फँस गये धर्म संकट में, तब सेठ विचार सु-कीना।
इससे तो मरण भला है, निज शील बिना क्या जीना?
तब हँसे वचन यों बोले, वे अनेकांत के धारी।
मैं तो हूँ अरे नपुंसक, तूने पहिले न विचारी।। 3।।
तत्क्षण ही घृणाभाव कर, हट गयी स्वयं ही पतिता।
तब सेठ सहज घर आये, लेकर अपनी पावनता।।
पुरुषत्व शीलधारी का, नहीं होय कदापि विकारी।
नहीं धर्म मार्ग से च्युत हों, रहते ज्ञानी अविकारी।। 4।।
ओ भव्य समझना यों ही, आत्मा में शक्ति अनंता।
पर ज्ञाता-दृष्टा ही है, नहीं होवे पर का कर्त्ता।।
'आत्मन्' अब भी तो चेतो, छोड़ो भ्रांति दुःखकारी।
कर्तृत्व-विकल्प न लाओ, तब सुख पाओ अविकारी।। 5।।
इक रोज वसंतोत्सव में, जाते थे सब नर-नारी।
अभया रानी भी जावे, कपिला भी जाये बेचारी।।
तब रथ में आती देखी, सुत गोद लिये एक नारी।
अभया रानी ने पूछा, किसके सुत सुन्दर प्यारी।। 6।।
दासी ने तुरन्त बताया, जो सेठ सुदर्शन नामी।
उनके ही हैं सुत नारी, सुनकर कपिला मुस्कानी।।

है सेठ नपुंसक कैसे फिर वह नारी सुत धारी।
हँस कर रानी तब बोली, धनि सेठ शील व्रतधारी।। 7।।
चाहा था उन्हें फँसाना, ठग गयी स्वयं ही तू तो।
मूर्खा तू समझ न पाई, तत्काल सेठ युक्ति को।।
मैं तो मूर्खा ही ठहरी, बोली झुंझला बेचारी।
वश में करके दिखलाओ, तुम रूप बुद्धि-बलधारी।। 8।।
रानी बातों में आयी, बुद्धि विवेक विसरानी।
दूती को लालच देकर, तब सेठ मिलन की ठानी।।
धर्मात्मा सेठ सुदर्शन, धर नग्न दशा अविकारी।
मरघट में ध्यान लगाते, चौदश निशि धीरज धारी।। 9।।
दूती ने जाल बिछाया, नर मूर्ति तुरत बनवायी।
कंधे पर रखकर उसको, महलों के द्वारे आयी।।
ज्यों द्वारपाल ने रोका, दूती ने मूर्ति गिरा दी।
व्रत टूट गया रानी का, तोहि सजा दिलाऊँ भारी।। 10।।
यों द्वारपाल वश कीने, तब उठा सेठ को लाई।
बैठाया जाय पलंग पर, रानी अति ही हरषाई।।
भारी चेष्टायें कीनी, यों रात गुजर गयी सारी।
पर ध्यान मग्न थे श्रेष्ठी, उपसर्ग समझ अतिभारी।। 11।।
ध्रुव का अवलम्बन जिनके, विचलित नहीं होते जग में।
उपसर्ग परीषह आवें, पर सतत बढ़ें शिवमग में।।
है आत्मज्ञान की महिमा, हो अद्भुत समता धारी।
उनकी गरिमा वर्णन में, इन्द्रों की बुद्धि हारी।। 12।।

जब विफल स्वयं को जाना, रानी षडयंत्र रचाया।
बिखराकर वस्त्राभूषण, तब उसने शोर मचाया।।
तत्क्षण सब दौड़े आये, नृप क्रोध किया अतिभारी।
कुछ न्याय अन्याय न जाना, शूली की सजा सुना दी।। 13।।
शूली के तख्ते पर थे, बैठे वे धर्म धुरन्धर।
किंचित् घबड़ाहट नाहीं, डूबे समता के अन्दर।।
तब नभ से पुष्प बरसते, सिंहासन रच गया भारी।
इन्द्रादिक स्तुति करते, जय-जय बोलें नर-नारी।। 14।।
चम्पापुरी धन्य हुयी थी, अरु वृषभदत्त यश पाया।
जिनके सुत सेठ सुदर्शन, यह चमत्कार दिखलाया।।
पिछले ग्वाले के भव में, श्रद्धा जिनधर्म की धारी।
फिर श्रेष्ठी सुत होकर यों, महिमा पाई सुखकारी।। 15।।
चरणों में नत हो भूपति, पछताते क्षमा कराते।
तब सेठ सुदर्शन बोले, हम दीक्षा ले वन जाते।।
नहीं दोष किसी का कुछ भी, कर्मों की लीला न्यारी।
कर्मों का नाश करेंगे, निर्ग्रन्थ दशा धर प्यारी।। 16।।
उत्तम सुयोग पाकर भी, मैं समय न व्यर्थ गँवाऊँ।
भोगों के दुख बहु पाये, अब इनमें नाहिं फँसाऊँ।।
नश्वर अशरण जगभर में, शुद्धातम ही सुखकारी।
निज में ही तृप्ति पाऊँ, संकल्प जगा हितकारी।। 17।।
मुनि हो तप करते-करते, पटना नगरी में आये।
उपसर्ग वहाँ भी भारी, पर किंचित् नहीं चिगाये।।

फिर शुक्लध्यान के द्वारा, कर्मों की धूल उड़ा दी।
प्रभु पौष शुक्ल पंचमी को, निर्वाण गये सुखकारी।। 18।।
है निमित्त अकिंचित्कर ही, किंचित् नहिं सुख–दुख दाता।
निज की सम्यक् दृढ़ता से, मिटती है सर्व असाता।।
प्रभु यही भावना मेरी, तुमसा पुरुषार्थ सु–धारी।
होकर शिवपदवी पाऊँ, चरणों में ढ़ोक हमारी।। 19।।
भवि पढ़ें–सुनें यह गाथा, हो तत्त्वज्ञान के धारी।
निज सम नारी भगनी सम, लघु सुता, बड़ी महतारी।।
'आत्मन्' ज्ञानाराधन से, उपजें नहीं भाव विकारी।
सारे ही जग में फैले यह, शील धर्म सुखकारी।। 20।।

(188) श्री वारिषेण वैराग्य

वैराग्य वारिषेण का आनन्दमय देखो।
ज्ञानी का साम्यभाव कैसा होता है देखो।। टेक।।
जिनधर्म भक्ता शुद्धशीला चेलना माता।
थे न्यायप्रिय श्रेणिक पिता आनन्द प्रदाता।।
बचपन से ही थे संस्कार धर्ममय जिनके।
जिनको न दुर्व्यसन तथा दुर्भाव छू सके।।
भाते हुए जिनभावना उनका चरित देखो।। ज्ञानी.।।
रनिवास में रहते हुए भी वे उदास थे।
तत्त्वार्थ श्रद्धानी, नहीं विषयों के दास थे।।
निर्ग्रन्थ पद की भावना भाते हुए रहते।
गृहवास को कर्मोदय कृत उपसर्ग सम सहते।।
श्मशान में चौदश को उनको ध्यान में देखो।। ज्ञानी.।।

प्रोषध–उपवास की क्रिया में सावधान थे।
निष्पाप, काया से विरत वे ज्ञानवान थे।।
थे लीन धर्मध्यान में मुनि के समान ही।
मुनिराज के लघु भ्राता श्रावक ध्याते ज्ञान ही।।
कैसा संयोग आ पड़ा था उस समय देखो।। ज्ञानी.।।
बहुमूल्य हार लेकर वहाँ इक चोर था आया।
पीछे सिपाही दौड़ते अत्यन्त घबराया ।।
श्री वारिषेण के समीप हार फैंक कर।
वह छिप गया पर सैनिकों ने चोर समझकर।।
कुछ भी कहा कुमार को विचित्रता देखो।। ज्ञानी.।।
उपसर्ग जानकर कुमार हो गये अचल।
भाते वैराग्य भावना जाने कर्मों का फल।।
आक्रोश का कुछ भाव भी मन में नहीं आया।
नहीं चोर पर, नहीं सैनिकों पर चित्त झुँझलाया।।
विपाक विचय धर्मध्यान का सुफल देखो।। ज्ञानी.।।
निज तत्त्वज्ञान के बल से अति शान्त चित्त थे।
अकिंचित्कर उनके लिए सब ही निमित्त थे।।
यदि बच गये उपसर्ग से तो दीक्षा ही लेंगे।
आराधेंगे शुद्धात्मा सब कर्म हरेंगे।।
कीनी प्रतिज्ञा स्वसन्मुख चिन्तन उनका देखो।। ज्ञानी.।।
जब सैनिकों ने राजा को जाकर यह बताया।
नहीं क्रोध के आवेश में कुछ सोच था पाया।।

तत्क्षण कहा काटो मस्तक तलवार से जाकर।
कीनी दया कुछ भी नहीं निजपुत्र समझकर।।
अंधा होता है क्रोध आँखें खोलकर देखो।। ज्ञानी.।।
यह सुनकर भी तो चेलना मन में निःशंक थी।
मम पुत्र चोर है नहीं निर्भय निःशंक थी।।
जल्लाद ने भी शंकित मन तलवार चलाई।
गर्दन में माला हो गयी थी फूल की भाई।।
तब जय-जयकार हो रही थी हर्ष से देखो।। ज्ञानी.।।
सारे नगर के लोग भी तो दौड़कर पहुँचे।
संकोच पश्चाताप से श्रेणिक नृपति पहुँचे।।
करना क्षमा बेटा बड़ा अपराध हो गया।
अब घर चलो दैवीय सत्य न्याय हो गया।।
धनि धन्य है जिनधर्म की प्रभावना देखो।। ज्ञानी.।।
तब मौन तोड़ वारिषेण शान्त चित्त कहा।
दीक्षा धरेंगे तात हम निस्सार जग लखा।।
तुमने तो राजपद का ही निर्वाह था किया।
ममता को ताक में रखकर था दण्ड ही दिया।।
नहीं खेद कुछ करो, यही संसार है देखो।। ज्ञानी.।।
आज्ञा दीक्षा की दे दो ये ही श्रेयरूप है।
पितु राग का बन्धन महासंक्लेश रूप है।।
मेरे हृदय में आज तो आनन्द है महा।
निर्ग्रन्थ दीक्षा की करो अनुमोदना अहा।।
वस्तु स्वरूप सम्बन्धों के पार हो देखो।। ज्ञानी.।।

वैराग्य का वातावरण सर्वत्र था छाया।
सुर नर मिल जय-जयकारों से आकाश गुँजाया।।
तब चोर ने भी चरणों में गिर कर माँगी क्षमा।
समझा बुझा कर वारिषेण राग को वमा।।
तज राज, रानी, मोह, ममता मुनि हुए देखो।। ज्ञानी.।।
रहने लगे आराधना में उद्यमी गुरुवर।
चर्या को निकले एक दिन वे शान्तचित्त मुनिवर।।
तब पुष्पडाल ने दिया आहार सुखकारी।
पूरब समय के नेह वश अनुराग था भारी।।
पहुँचाने साथ चल दिया फिर मुनि हुआ देखो।। ज्ञानी.।।
संकोचवश मुनि हो गया नहीं राग था टूटा।
थी वासना मन का नहीं सम्बन्ध था छूटा।।
करते हुए मुनि की क्रिया भी भूल नहीं पाया।
निज आत्मा का एक क्षण अनुभव नहीं आया।।
देखा-देखी का मार्ग नहीं यह अन्तर में देखो।। ज्ञानी.।।
है योग्यता कारण नियामक क्या निमित्त करे।
स्वतंत्र है सब परिणमन टारे नहीं टरे।।
सुन्दर समवशरण रचा था वीरनाथ का।
इन्द्रादि करते स्तवन श्री वीरनाथ का।।
उत्कृष्ट था निमित्त निज कल्याण का देखो।। ज्ञानी.।।
पर स्तवन सुनते हुए भी मोह हो गया।
स्त्री के पास पुष्पडाल घर को चल दिया।।

मुनिराज वारिषेण भी तब संग चल दिये।
करने उसे थिर धर्म में निज महल चल दिये।।
लोकोत्तर करुणाभाव श्री मुनिराज का देखो।। ज्ञान.।।
देखा था चेलना उन्हें आते हुए घर में।
आसन बिछाये दो वैराग्य का निर्णय करने।।
श्री वारिषेण जी चुना था काष्ठ का आसन।
अरु पुष्पडाल बैठ गया स्वर्ण सिंहासन।।
रनिवास दर्शन को आया था क्या हुआ देखो।। ज्ञानी.।।
श्री वारिषेण ने कहा रे पुष्पडाल सुन।
रुक जा यहीं पर हो सके यदि तृप्त तेरा मन।।
स्वर्गों के भोग भी भोगे तूने अनंतबार।
साधारण स्त्री में भरमाया रे तुझे धिक्कार।।
बारह बरस खोये वृथा विचार कर देखो।। ज्ञानी.।।
तब धर्ममाता चेलना कहने लगी मुनिवर।
खोओ नहीं पाया महा-कल्याण का अवसर।।
असि धार के मधु के समान भोग हैं दुःखकर।
आनन्द से आराधना अपनी करो सुखकर।।
है स्मरण के योग्य ध्रुव शुद्धात्मा देखो।। ज्ञानी.।।
भोगों से वासना कभी भी तृप्त नहीं होती।
आनन्दमय अनुभूति निज की सर्व दुःख खोती।।
करके वमन फिर चाहना तो निंद्य ही जानो।
अभ्यास अन्तर का करो दुर्वासना हानो।।
अन्तर में तृप्त भगवन्तों को भक्ति से देखो।। ज्ञानी.।।

तब पुष्पडाल हो सचेत प्रायश्चित लिया।
श्री वारिषेण भी महान उग्र तप किया।।
वैराग्य उनका हो हमें वैराग्य प्रदाता।
वैराग्य ही है एक अभय सर्व सुखदाता।।
निस्सार सब परभाव सार निज प्रभु देखो।। ज्ञानी.।।
देखो नहीं बाहर मिलेगा क्लेश ही भाई।
सुखशान्ति निज में ही, नहीं पर से कभी आई।।
छोड़ो अरे अब तो अनादि मोह को छोड़ो।
निज परिणति आनन्द से निजमाँहि ही जोड़ो।।
अपना सर्वस्व 'आत्मन्' तुम अपने में देखो।। ज्ञानी.।।

(189) श्री जम्बूस्वामी वैराग्य

(दोहा)

ब्रह्मचर्य के मेरु प्रभु, जम्बूस्वामी नाम।
यौवन नारी मध्य भी किया परास्त सु काम।। 1।।
पंचम काल के आदि में, गये मोक्ष अभिराम।
महाशूर इन्द्रियजयी, शत्-शत् तुम्हें प्रणाम।। 2।।

(छन्द)

धनि-धनि हैं जम्बूस्वामी, वैरागी शिवपथ गामी।
राजगृह नगर मँझारी, फाल्गुन पूनम सुखकारी।। 3।।
मंगलमय जन्म हुआ जब, हर्षाये नर नारी सब।
पितु अर्हद्दास तुम्हारे, सचमुच अर्हत् के प्यारे।। 4।।
माता जिनमती बड़भागी, जिनमत व्रत में अनुरागी।
तत्त्वों के अति अभ्यासी, निज आतम ज्योति प्रकाशी।। 5।।

आतम अनुभव रस लागा, भोगों का सब रस भागा।
ज्ञानात्मक भोजन करते, समता से लेश न चिगते।। 6।।
निज पूर्व कर्म अनुसारे, बाहर के कार्य सम्भारे।
गृह जल में कमल समाना, दृष्टि वर्ते अम्लाना।। 7।।
षट् आवश्यक नित पालें, रत्नत्रय को आराधें।
क्षत्रिय वृत्ति को धारा, अनुपम था शौर्य तुम्हारा।। 8।।
मधुक्रीड़ा में मदमाता, गज किया स्ववश थे त्राता।
मृग-अंक सुता गुणधारी, रत्नचूल कुदृष्टि जु डारी।। 9।।
मुनि वचन हृदय में धारे, श्रेणिक के हेतु विचारे।
नृप दूत राजगृह भेजा, तुम चले शीघ्र अति तेजा।। 10।।
रत्नचूल को मार भगाया, निर्मल यश तुमने पाया।
शुभ न्याय मार्ग पग धारा, अन्याय न कभी विचारा।। 11।।
जब यौवन में पग दीना, विकसा तब अंग नवीना।
पर काम भाव से न्यारे, अति शान्त चरित्र तुम्हारे।। 12।।
लख शादी की तैयारी, कीना निषेध सुखकारी।
दीक्षा लेने की ठानी, हो महाधन्य तुम ज्ञानी।। 13।।
प्रातः ही दीक्षा धारूँ, निर्ग्रन्थ रूप अवधारूँ।
कन्याएँ शीलव्रत धारी, प्रण कीना मंगलकारी।। 14।।
एक बार विवाह रचायें, यदि उनको रोक न पायें।
फिर हम भी दीक्षा धारें, निज ज्ञायक भाव सम्हारें।। 15।।
शादी का स्वांग रचाया, नाना विधि तुम्हें रिझाया।
बहु हाव-भाव प्रकटाये, सेवा चातुर्य दिखाये।। 16।।

थी राग विराग लड़ाई, पर विजय तुम्हीं ने पाई।
कन्याएँ हुई विरागी, पर तुम न हुए अनुरागी।। 17।।
दृढ़ ब्रह्मचर्य से स्वामी, गिरि–राग हुआ भू गामी।
विद्युच्चर चोर जु नामी, आया चोरी को स्वामी।। 18।।
तब चर्चा में अनुरागे, अपनी सब सुधि–बुधि त्यागे।
प्रातः सिर तुम्हें झुकाया, अपना वृत्तांत सुनाया।। 19।।
उसकी मिथ्यामति भागी, तुमसा हो गया विरागी।
स्वामी सुधर्म ढिंग आये, गुरु चरणों शीश नवाये।। 20।।
तत्क्षण ही दीक्षा धारी, कन्याएँ अर्जिका सारी।
कोमलता सब तज दीनी, अति कठिन जु चर्या लीनी।। 21।।
अति ही दुर्द्धर तप कीने, अरु घाति कर्म तज दीने।
सितमाघ सप्तमी आई, प्रभु केवल लक्ष्मी पाई।। 22।।
अरिहंत परमपद पाया, सुर जय–जयकार कराया।
अष्टादश वर्ष सु स्वामी, हुई दिव्य देशना नामी।। 23।।
चौरासी मथुरा आये, तहँ कर्म अघाति नशाये।
लोकान्त गमन तब कीना, अविचल अनर्घ पद लीना।। 24।।

(दोहा)

वीतराग विज्ञानमय, मंगलमूर्ति महान।
तुम–सम दृष्टि ज्ञानमय, हमको हो सुखदान।। 25।।

(190) श्री कुन्दकुन्द वैराग्य

जिनशासन के स्तम्भ श्री कुन्दकुन्द आचार्य।
हो जैनधर्म के गौरव श्री कुन्दकुन्द आचार्य।। 1।।

जलते जंगल में ग्वाले ने एक वृक्ष देखा था।
जो नहीं जला था हरा खड़ा, कौतूहल जागा था।। 2।।
जब गया वृक्ष की कोटर में, जिनआगम पाया था।
वह पढ़ा लिखा तो नहीं, किन्तु मन में हरषाया था।। 3।।
लाकर श्रेष्ठी गृह में किया, उसने विराजमान।
पूजा करे वंदन करे, हृदय में धरि बहुमान।। 4।।
इक दिन श्रेष्ठी के घर में मुनि का आहार था हुआ।
वह आगम भक्ति से ग्वाले ने भेंट था किया।। 5।।
श्रेष्ठी के घर ही जन्म लिया उस ग्वाले ने मरकर।
बचपन से ही तत्त्वज्ञान के संस्कार थे प्रखर।। 6।।
हुए थे ग्यारह वर्ष के वैराग्य उमड़ाया।
मुनिदीक्षा लेने का हृदय में भाव था आया।। 7।।
विह्वल माता-पिता बोले निज मोह की भाषा।
हे वत्स! तुमसे ही लगी इस जीवन की आशा।। 8।।
खेलो कूदो अरु पढ़ो-लिखो आनन्द मनाओ।
है कमी नहीं कुछ घर में बेटा ब्याह रचाओ।। 9।।
जिनवर की पूजा गुरुओं की उपासना करो।
स्वाध्याय संयम दान में प्रमाद ना करो।। 10।।
घर में रहकर ही धर्म की आराधना करना।
मुनिधर्म अति उत्कृष्ट है तुम बाद में धरना।। 11।।
बोले कुन्दकुन्द हे पिताजी मोह को तोड़ो।
है कौन किसका पुत्र क्यों मिथ्या नाता जोड़ो।। 12।।

सब शुद्ध-बुद्ध चैतन्यमय भगवान आत्मा।
परभावों से है शून्य ध्रुव कारण परमात्मा।। 13।।
अपने को आप भूलकर भव-भव में भरमाया।
सौभाग्य आत्माराधन का अब भाव जगाया।। 14।।
रोको मत, अनुमोदन करके उत्साह बढ़ाओ।
खेलूँगा मुक्तिमार्ग में आशीष बरसाओ।। 15।।
जानूँ नित जाननहार निज आनन्द वेदूँगा।
दुःखों के कारण मोह को निश्चय ही छेदूँगा।। 16।।
खल टूक सम पंचेन्द्रियों के भोग हैं निस्सार।
सुख की तो मात्र कल्पना खुलता नरकों का द्वार।। 17।।
तुम ही कहो हे तात! इनमें सुख क्या पाया।
वैराग्य के पावन अवसर पर क्या ये फरमाया।। 18।।
भोगों में तृप्ति ढूँढना अज्ञान दुःखदाई।
बाँसों की छाया लेकर किसने धूप बचाई।। 19।।
भव-भव में कितने ब्याह कर परिवार बसाए।
था मरा उन्हीं की ममता में पर काम नहीं आए।। 20।।
नहीं भूल को दोहराऊँगा मैं अब इस जन्म में।
निज ज्ञायक प्रभु आराधूँगा सचमुच आनन्द में।। 21।।
कष्टों का भय दिखाकर अब नहीं मुझको अजमाओ।
मैं आराधन से नहीं चिगूँ विश्वास उर लाओ।। 22।।
चैतन्य का बल है मुझे, समता है सहचरी।
आनन्दित होओ तात् आई है मंगल घड़ी।। 23।।

नहीं मुझको बालक देखो मैं हूँ अनादिनिधन।
प्रभु स्वयं सिद्ध परमात्मा सुखमय विज्ञानघन।। 24।।
हूँ सहज चतुष्टय से सनाथ नाथ मुक्ति का।
निर्ग्रन्थ हो निर्द्वन्द्व पाऊँ राज्य मुक्ति का।। 25।।
ज्ञायक हूँ ज्ञायक ही रहूँ वाँछा नहीं कुछ भी।
आवेश नहीं यह होश है संशय नहीं कुछ भी।। 26।।
होकर जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी आत्मरस पिऊँ।
जग का झूठा घर वैभव तज निज घर में ही रहूँ।। 27।।
माता-पिता संतुष्ट हुए देखकर दृढ़ता।
आनन्दित होकर बोले धारो वत्स जिनदीक्षा।। 28।।
मंगलमय होवे मार्ग जाओ निश्चय शिव पाओ।
जिनधर्म की पावन पताका जग में लहराओ।। 29।।
धनि-धनि है ज्ञानमय अहो वैराग्य तुम्हारा।
जयवन्त वर्तें जिसके सन्मुख मोह है हारा।। 30।।
जग से उदास प्रमुदित कुन्दकुन्द चल दिए।
निर्मोही हो धारें क्षमा तब वन को चल दिए।। 31।।
गुरुवर की साक्षी में धारा मुनिधर्म अविकारी।
जो प्रचुर स्वसंवेदनमय है अनुपम मंगलकारी।। 32।।
जहँ तीन चौकड़ी मिटी, रही नहीं विषयों की आशा।
आरम्भ परिग्रह छूटा ज्ञान ध्यान प्रकाशा।। 33।।
करते हुए आराधना जीवन सफल किया।
रचकर परमागम भव्यों का उपकार बहु किया।। 34।।

गुरु के प्रसाद पाया हमने तत्त्व अविकारी।
कर स्वानुभूति से प्रमाण, होवें शिवचारी।। 35।।
शुद्धात्म आराधन तथा, जिनधर्म प्रभावन।
आनंद से हम भी करें ये ही हमारा प्रण।। 36।।
उपसर्ग परीषह सब सहें जिनधर्म के लिए।
सर्वस्व समर्पण हमारा धर्म के लिए।। 37।।
कृत कारित अनुमोदन करो सब ये ही श्रेय है।
ध्रुव चिदानन्दमय शुद्धात्म ही एक ध्येय है।। 38।।

(191) सती अनन्तमती गाथा

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, सुनो भव्यजन ध्यान से।
सती शिरोमणि अनन्तमती, की गाथा जैन पुराण से।। टेक।।
बहुत समय पहले चम्पानगरी में, प्रियदत्त सेठ हुये।
न्यायवान गुणवान बड़े, धर्मात्मा अति धनवान थे वे।।
पुत्री एक अनन्तमती, इनकी प्राणों से प्यारी थी।
संस्कारों में पली परम विदुषी रुचिवंत दुलारी थी।।
सदाचरण की दिव्य मूर्ति निज उन्नति करती ज्ञान से।। सती...।। 1।।
मंगलपर्व अठाई आया, श्री मुनिराज पधारे थे।
स्वानुभूति में मग्न रहे, अरु अद्भुत समता धारे थे।।
धर्मकीर्ति मुनिराज धर्म का, मंगल रूप सुनाया था।
श्रद्धा, ज्ञान, विवेक जगा, वैराग्य रंग बरसाया था।।
धन्य-धन्य नर नारी कहते, स्तुति करते तान से।।सती...।। 2।।

प्रियदत्त सेठ ने धर्म पर्व में, ब्रह्मचर्य का नियम लिया।
सहज भाव से अनन्तमती ने, ब्रह्मचर्य स्वीकार किया।।
जब प्रसंग शादी का आया, बोली पितु क्या करते हो।
ब्रह्मचर्य-सा नियम छुड़ा, भोगों में प्रेरित करते हो।।
भोगों में सुख किसने पाया, फँसे व्यर्थ अज्ञान से।
सती शिरोमणि अनन्तमती, की गाथा जैन पुराण से।। 3।।
व्रत को लेना और छोड़ना, हँसी खेल का काम नहीं।
भोगों के दुःख प्रत्यक्ष दीखें, अब तुम लेना नाम नहीं।।
गज मछली अलि पतंग हिरण, इक-इक विषयों में मरते हैं।
फिर भी विस्मय मूढ़, पंचेन्द्रिय भोगों में फँसते हैं।।
मिर्च भरा ताम्बूल चबाते, हँसते झूठी शान से।। सती... ।। 4।।
चिंतामणि सम दुर्लभ नरभव, नहिं इनमें फँस जाने को।
यह भव हमें सु प्रेरित करता, निजानंद रस पाने को।।
भोगों की अग्नि में अब यह, जीवन हवन नहीं होगा।
क्षणिक सुखाभासों में शाश्वत सुख का दमन नहीं होगा।।
निज का सुख तो निज में ही है देखो सम्यग्ज्ञान से।। सती...।। 5।।
अब मैं पीछे नहीं हटूँगी, ब्रह्मचर्य व्रत पालूँगी।
शील बाढ़ नौ धारण करके, अन्तर ब्रह्म निहारूँगी।।
नहिं बालिका मुझको समझो, मैं भी तो प्रभु सम प्रभु हूँ।
भय शंका का लेश न मुझमें, अनन्त शक्तिधारी विभु हूँ।।
मूढ़ बनो मत स्व-महिमा पहिचानो भेदविज्ञान से।। सती...।। 6।।

मिट्टी का टीला तो देखो, जल धारा से बह जाता।
धारा ही मुड़ जाती, लेकिन अचल अडिग पर्वत रहता।।
ध्रुव कीली के पास रहें, वे दाने नहिं पिस पाते हैं।
छिन्न-भिन्न पिसते हैं वे ही, कीली छोड़ जो जाते हैं।।
निजस्वभाव को नहीं छोड़ना, सुनो भ्रात अब कान दे।
सती शिरोमणि अनन्तमती, की गाथा जैन पुराण से।। 7।।
अनन्तमती की दृढ़ता देखी, मात-पिता भी शांत हुये।
आनन्दित हो धर्मध्यान में, वे सब ही लवलीन हुये।।
झूला झूल रही थी इक दिन, कुण्डलमण्डित आया था।
कामासक्त हुआ विद्याधर, जबरन् उसे उठाया था।।
पर पत्नी के भय के कारण, छोड़ा उसे विमान से।। सती..।। 8।।
एकाकी वन में प्रभु सुमरे, भीलों का राजा आया।
कामवासना पूरी करने को, वह भी था ललचाया।।
देवों द्वारा हुआ प्रताड़ित, सती तेज से काँप गया।
पुष्पक व्यापारी को दी, उसने वेश्या को बेच दिया।।
देखो सुर भी होंय सहाई, सम्यक् धर्मध्यान से।। सती...।। 9।।
वेश्या ने बहु जाल बिछाया, पर वह भी असमर्थ रही।
भेंट किया राजा को उसने, सती वहाँ भी अडिग रही।।
देखो कर्मोदय की लीला, कितनी आपत्ति आयी।
महिमा निजस्वभाव की निरखो, सती न किंचित् घबरायी।।
कर्म विकार करे नहीं जबरन्, व्यर्थ रुले अज्ञान से।। सती...।।10।।

निकल संकटों से फिर पहुँची, पद्मश्री आर्यिका के पास।
निजस्वभाव साधन करने का, मन में था अपूर्व उल्लास।।
उधर दु:खी प्रियदत्त मोहवश, यहीं अयोध्या में आये।
बिछुड़ी निज पुत्री को पाकर, मन में अति ही हरषाये।।
घर चलने को कहा तभी, दीक्षा ली हर्ष महान से।। सती... ।। 11 ।।
निजस्वरूप विश्रान्तिमयी, इच्छा निरोध तप धारा था।
रत्नत्रय की पावन गरिमामय, निजरूप सम्भाला था।।
मगन हुयी निज में ही ऐसी, मैं स्त्री हूँ भूल गयी।
छूटी देह समाधिसहित, द्वादशम स्वर्ग में देव हुयी।।
पढ़ो-सुनो ब्रह्मचर्य धरो, सुख पाओ आतमज्ञान से।। सती... ।। 12 ।।
परभावशून्य चिद्‌भावपूर्ण मैं परम ब्रह्म श्रद्धा जागे।
विषय-कषायें दूर रहें, मन निजानंद में ही पागे।।
ये ही निश्चय ब्रह्मचर्य, आनंदमयी मुक्ति का द्वार।
संकट त्राता आनन्द दाता, इससे ही होवे उद्धार।।
अत: 'आत्मन्' उत्तम अवसर, बनो स्वयं भगवान-से।। सती... ।। 13 ।।

(192) सच्चा जैन

ज्ञानी जैन उन्हीं को कहते, आतम तत्त्व निहारे जो।
ज्यों का त्यों जाने तत्त्वों को, ज्ञायक में चित धारे जो।। 1।।
सच्चे देव-शास्त्र-गुरुवर की, परम प्रतीति लावे जो।
वीतराग-विज्ञान-परिणति, सुख का मूल विचारे जो।। 2।।
नहीं मिथ्यात्व अन्याय अनीति, सप्त व्यसन के त्यागी जो।
पूर्ण प्रमाणिक सहज अहिंसक, निर्मल जीवन धारे जो।। 3।।

पापों में तो लिप्त न होवे, पुण्य भलो नहीं माने जो।
पर्याय को ही स्वभाव न जाने, नहिं ध्रुव दृष्टि विसारे जो।। 4।।
भेद-ज्ञान की निर्मल धारा, अन्तर माँहि बहावे जो।
इष्ट-अनिष्ट न कोई जग में, निज मन माँहि विचारे जो। 5।।
स्वानुभूति बिन परिणति सूनी, राग जहर सम जाने जो।
निज में ही स्थिरता का, सम्यक् पुरुषार्थ बढ़ावे जो।। 6।।
कर्त्ता-भोक्ता भाव न मेरे, ज्ञान स्वभाव ही जाने जो।
स्वयं त्रिकाल शुद्ध आनंदमय, निष्क्रिय तत्त्व चितारे जो।। 7।।
रहे अलिप्त जलज ज्यों जल में, नित्य निरंजन ध्यावे जो।
'आत्मन्' अल्पकाल में मंगलरूप, परमपद पावे जो।। 8।।

(193) संकल्प

हम एक हैं......हम एक हैं, संकल्प लें हम एक हैं।
देव हमारे एक हैं, गुरु हमारे एक हैं।।
धर्म हमारा एक है, लक्ष्य हमारा एक है।। टेक।।
अरहंत देव हमारे हैं, निर्ग्रन्थ गुरुवर प्यारे हैं।
माँ हम सबकी है जिनवाणी, धर्म अहिंसा धारे है।। 1।।
सत्ता सबकी न्यारी-न्यारी, किन्तु स्वरूप समान है।
सर्वोत्तम भगवान आत्मा, गुण अनन्त की खान है।। 2।।
द्रव्यदृष्टि से भेद न किंचित्, हमने आज निहारा है।
राग-द्वेष अब नहीं किसी से, परम साम्य सुखकारा है।।3।।
सबका होवे स्वयं परिणमन, कोई न कर्ता हरता है।
अपने-अपने भावों का यह, जीव स्वयं फल भरता है।।4।।

इष्ट-अनिष्ट कहें हम पर को, झूठी मन की वृत्ति है।
करें भेद-विज्ञान स्व-पर का, होवे सुख की सृष्टि है।।5।।

(194) तीर्थ वंदना

(तर्ज: रोम-रोम पुलकित हो जाय...)

तीर्थ-वन्दना मंगलकारी, तीर्थ-वन्दना आनन्दकारी।। टेक।।
महाभाग्य से हो जिनदर्शन, महाभाग्य से चरण-स्पर्शन।
भाव-विशुद्धि हो सुखकारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 1।।
प्रभु की शांतिछवि को निरखें, परमतत्त्व को अब हम परखें।
शाश्वत ज्ञायक प्रभु अविकारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 2।।
आत्म साधना की यह भूमि, धर्माराधन की यह भूमि।
भायें तत्त्व-भावना प्यारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 3।।
यहाँ संतों की याद सु-आये, मुक्तिमार्ग में मन ललचाये।
छूटें जग प्रपंच दुखकारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 4।।
अहो! जिनेश्वर क्या कहते हैं, सदा सहज निज में रहते हैं।
हम भी होवें शिवमगचारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 5।।
हो सम्यक् श्रद्धान हमारा, हो निर्मल सद्ज्ञान हमारा।
होवें सम्यक् चारित्रधारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 6।।
नहीं कामना भोगों की हो, नहीं याचना वैभव की हो।
प्रभु सम प्रभुता होय हमारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 7।।
भक्ति भाव से प्रभु गुण गावें, प्रभु को हृदय माँहिं बसावें।
सफल वंदना होय हमारी, तीर्थ-वन्दना मंगलकारी।। 8।।

(195) सर्वज्ञ–शासन जयवंत वर्ते!

सर्वज्ञ–शासन जयवंत वर्ते! निर्ग्रन्थ–शासन जयवंत वर्ते।
यही भाव अविच्छिन्न रहता है मन में, सर्वज्ञ–शासन जयवंत वर्ते।।टेक।।
निशंक निर्भय रहें हम सदा ही, अरे स्वप्न में भी न कुछ कामना हो।
निरपेक्ष रहकर करें साधना नित, कभी ग्लानि भय या अनुत्साह ना हो।।
बातों में आवें न जग की कदापि, चमत्कार लखकर नहीं मूढ़ होवें।
अरे पर की निंदा, प्रशंसा स्वयं की, करके समय शक्ति बुद्धि न खोवें।।
चलित को लगावें सहज मुक्ति पथ में, व्यवहार सबसे सहज प्रेममय हो।
दुर्भाव मन में भी आवे कभी ना, निर्दोष सम्यक्त्व जयवन्त वर्ते।।1।।
अभ्यास हो तत्त्व का ही निरन्तर, संशय विपर्यय अरे दूर भागे।
जिनागम पढ़ें और पढ़ावें सभी को, सदा ज्ञान दीपक सुजलता हो आगे।।
जिनआज्ञा हो शीश पर नित हमारे, समाधान हो ज्ञानमय सुखकारी।
गुरुवर का गौरव सदा हो हृदय में, बहे ज्ञानधारा सुआनंदकारी।।
वस्तुस्वभावमयी धर्म सुखमय, प्रकाशे जगत में अनेकांत सम्यक्।
ऊँचा रहे ध्वज सदा स्याद्वादी, निर्दोष सद्ज्ञान जयवन्त वर्ते।।2।।
अहिंसामयी हो प्रवृत्ति सहज ही, जीवन का आधार हो सत्य सुखमय।
अचौर्य धारें पर प्रीति त्यागें, परमशील वर्ते रहें सहज निर्भय।।
महाक्लेशकारी है आरम्भ परिग्रह, उसे छोड़ लग जायें निज–साधना में।
धुल जायें सब मैल समता की धारा से, बढ़ते ही जायें सुआराधना में।।
होवें जितेन्द्रिय परम तृप्त निज में, एकाग्रता हो परम मग्नता हो।
साक्षात् साधन मुक्ति का सुखमय, निर्दोष चारित्र जयवंत वर्ते।।3।।

रत्नत्रय मुक्ति का मार्ग है अद्भुत, चैतन्य रत्नाकर अद्भुत से अद्भुत।
होवें निमग्न अहो सर्व प्राणी, वीतरागी शासन जयवन्त वर्ते।।
जयवन्त वर्तें सर्वज्ञ देव, जयवन्त वर्तें निर्ग्रन्थ गुरुवर।
जयवन्त वर्ते श्री जिनवाणी, जिनधर्म, जिनतीर्थ जयवन्त वर्तें।।
शुद्धात्मा का श्रद्धान वर्ते, अनुभूति निर्मल अविच्छिन्न वर्ते।
आवागमन से निर्मुक्ति होवे, मुक्ति का साम्राज्य जयवन्त वर्ते।। 4।।

(196) नम्र भावना

इतना ऊँचा कभी न होऊँ, जो नीचे नहीं लख पाऊँ।
गिरूँ गर्त में ठोकर खाऊँ, काँटों से नहीं बच पाऊँ।। 1।।
इतना धनी कभी नहीं होऊँ, जो निर्धन को ठुकराऊँ।
झूठी मान प्रतिष्ठा में फँस, मानवता को विसराऊँ।। 2।।
सुविधाएँ कितनी ही होवें, नहीं आलसी हो जाऊँ।
रहूँ स्वावलम्बी जीवन में, बोझा कभी न बन पाऊँ।। 3।।
आदर चाहे कितना पाऊँ, नहीं अनादर करूँ कभी।
रहूँ सहज निरपेक्ष समझकर, अपने सम ही जीव सभी।। 4।।
देहादिक में मग्न रहूँ नहीं, सहज निहारूँ शुद्धातम।
पर को ही सुख दुख का कारण, समझ रहूँ नहीं बहिरातम।। 5।।
महाभाग्य जिनवाणी पाई, तत्त्वों का होवे श्रद्धान।
रत्नत्रय की करूँ साधना, वर्ते सदा भेदविज्ञान।। 6।।
क्षण-क्षण भाऊँ आत्म भावना, सर्व विभावों को नाशूँ।
होऊँ मग्न सहज अपने में, अक्षय प्रभुता परकाशूँ।। 7।।

नोट :-

रजि. -2/09-10/B-113(1)

श्री वर्द्धमान न्यास (पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट)

अमायन, जिला – भिण्ड(म.प्र.)–४७७२२७

(रजि. AAJTS769D/03/15-16/T-268/80G आयकर अधिनियम १९७१ की धारा 80-G के अन्तर्गत छूट की पात्रता है)

द्वारा संचालित गतिविधियाँ –

१. श्री वर्द्धमान दि. जैन विद्यार्थी गृह

२. श्री वर्द्धमान दि. जैन कन्या विद्यार्थी गृह

३. वर्द्धमान औषधालय

४. वर्द्धमान पुस्तकालय

५. सत्–साहित्य प्रकाशन

६. मेधावी/निर्धन छात्र एवं छात्राओं को छात्रवृत्ति

७. श्री वर्द्धमान प्राकृतिक चिकित्सा संस्थान
(आयुर्वेदिक एवं एक्यूप्रेशर)

(NDDY चिकित्सक एवं सहायक चिकित्सक – डिप्लोमा कोर्स)

श्री वर्द्धमान न्यास, अमायन (भिण्ड, म.प्र.)
द्वारा प्रकाशित, उपलब्ध सत्साहित्य-
(श्री ब्र. रवीन्द्र जी 'आत्मन्' विरचित)

क्र.	नाम	न्योछावर राशि
1.	अमृत वचन	50/-
2.	स्वानुभव पत्रावलि	50/-
3.	जीवन पथ दर्शन	30/-
4.	जीवन पथ दर्शन (संक्षिप्त)	20/-
5.	लघु बोध कथाएँ	30/-
6.	जिनवर स्तवन	30/-
7.	स्वरूप-स्मरण	40/-
8.	जिन-भक्ति सिंधु	50/-
9.	रत्नत्रय विधान	10/-
10.	चौंसठ ऋद्धि विधान	10/-
11.	रत्नत्रय-चौंसठ ऋद्धि विधान	10/-
12.	नीति वचन	20/-
13.	उन्नति	30/-
14.	प्रेरणा	30/-
15.	बाल भावना	05/-
16.	सहज पाठ संग्रह	50/-
17.	वैराग्य पाठ संग्रह (सजिल्द)	40/-
18.	दृष्टांत-सिद्धांत	40/-
	अन्य -	
19.	अनुबंध (श्रीमती रूपवती 'किरण')	20/-
20.	पावन मन (श्रीमती रूपवती 'किरण')	15/-
21.	जैन सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (श्रीमती रूपवती 'किरण')	30/-
22.	बसंततिलका (श्रीमती रूपवती 'किरण')	25/-
23.	पूर्णिमा (श्री भगवत् जैन)	22/-
24	अमर विश्वास (कहानी संग्रह)	30/-

विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से सत्साहित्य आप घर-घर पहुँचाकर नैतिकता के प्रसार में अपना योगदान दें।

सम्पर्क सूत्र- अमायन : प्रवीण भैया-9926316216

भिण्ड : अनिल जैन-9926485686, ग्वालियर : राजेन्द्र जैन-9826254741